विक्रम संवत् २०७४

Sakshatkar/R.N.I.३०११३/७६
ISSN : २४५६-११२४

साक्षात्कार

अंक : ४५३, सितंबर, २०१७

कैद परिंदे का बयान

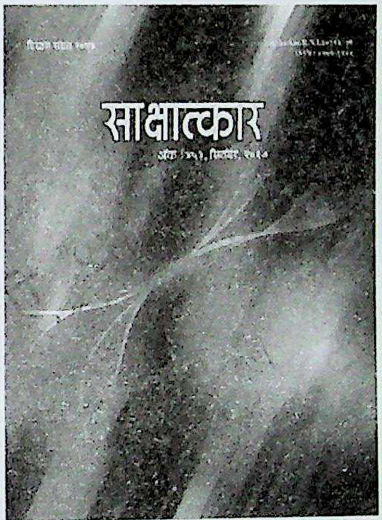
तुमको अचरज है- मैं जीवित हूँ!
उनको अचरज है- मैं जीवित हूँ!
मुझको अचरज है- मैं जीवित हूँ!

लेकिन मैं इसीलिए जीवित नहीं हूँ-
मुझे मृत्यु से दुराव था,
यह जीवन जीने का चाव था,
या कुछ मधु-स्मृतियाँ जीवन-मरण के हिंडोले पर
संतुलन साधे रहीं,
मिथ्या की कच्ची-सूती डोरियाँ
साँसों को जीवन से बाँधे रहीं;
नहीं-
नहीं!
ऐसा नहीं!!

बल्कि मैं जिंदा हूँ
क्योंकि मैं पिंजड़े में क़ैद वह परिंदा हूँ-
जो कभी स्वतंत्र रहा है
जिसको सत्य के अतिरिक्त, और कुछ दिखा नहीं,
तोते की तरह जिसने
तनिक खिड़की खुलते ही
आँखें बचाकर, भाग जाना सीखा नहीं;
अब मैं जियूँगा
और यूँ ही जियूँगा,
मुझमें प्रेरणा नई या बल आए न आए,
शूलों की शय्या पर पड़ा-पड़ा कसकूँ
एक पल को भी कल आए न आए,
नई सूचना का मौर बाँधे हुए
चेतना ये, होकर सफल आए न आए,
पर मैं जियूँगा नई फ़सल के लिए
कभी ये नई फ़सल आए न आए :

हाँ! जिस दिन पिंजड़े की
सलाखें मोड़ लूँगा मैं,
उस दिन सहर्ष
जीर्ण देह छोड़ दूँगा मैं!

- दुष्यंत कुमार



उमेश कुमार सिंह
संपादक

ISSN : २४५६-१९२४

साक्षात्कार

सितम्बर-२०१७
(आश्विन, वि.सं. २०७४)
४५३

संपादकीय एवं ग्राहकीय पत्र-व्यवहार : निदेशक/संपादक, साहित्य अकादमी, संस्कृति भवन, बाणगंगा, भोपाल-३

फ़ोन : ०७५५ : २५५४७८२ (कार्यालय)

साक्षात्कार की प्रकाशनार्थ रचनाओं के लिए
email : sakshatkarnew@gmail.com पर मेल करें।

वार्षिक सहयोग राशि

व्यक्तिगत ग्राहकों के लिए	:	₹ २५०
संस्थाओं के लिए	:	₹ ३००
आजीवन	:	₹ ३,०००

यह अंक : ₹ २५

समस्त बैंक ड्रॉफ्ट/मनीआर्डर '**निदेशक, साहित्य अकादमी, भोपाल**' के नाम स्वीकार्य होंगे।

प्रसार एवं ग्राहकीय पत्र-व्यवहार : साबिर रहमान, फोन २५५४७८२ (कार्यालयीन समय में)

आकल्पन : राकेश सिंह

प्रूफ रीडिंग : कमला प्रसाद चौरसिया

मुद्रण : मध्यप्रदेश माध्यम, अरेरा हिल्स, भोपाल

'साक्षात्कार' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार अपने हैं। संपादक या साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन का उनके विचार के प्रति सहमत होना आवश्यक नहीं है।

साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश का मासिक प्रकाशन

अनुक्रम

सम्पादकीय

संस्कृति का आधार संस्कृत

(एक) : राष्ट्रभाषा

विद्वानों की मान्यता है कि पाणिनि ने हिमालय जाकर कठोर साधना की और भगवान महादेव से व्याकरण के सूत्र सीखे। पश्चात संस्कृत व्याकरण को सूत्रबद्ध कर लौकिक संस्कृत का स्वरूप दिया। इसी तरह तमिलनाडु के लोगों का दृढ़ विश्वास है कि भगवान शिव ने स्वयं महर्षि पाणिनि एवं महर्षि अगस्त्य को क्रमश: देववाणी संस्कृत एवं तमिल भाषा का एक साथ ज्ञान प्रदान किया। यहाँ प्रथमत: यह बात स्पष्ट करना उचित होगा कि कुछ इतिहासकारों ने भाषायी आधार पर भी तथाकथित आर्य एवं द्रविड़ों के अन्तर को स्पष्ट करने का अथक प्रयास किया है; तथापि वे इस सामान्य सत्य को समझने में नाकाम रहे जिसे हमारे दृष्टाओं ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि ''लोग अपनी भाषा को यथावत रखते हुए भी अपनी संस्कृति में परिवर्तन कर सकते हैं; या अपने समूह को यथावत् रखते हुए भी भाषा में परिवर्तन कर सकते हैं; या अपनी भाषा को यथावत रखते हुए अपने समूह के प्रकार एवं संस्कृति में परिवर्तन कर सकते हैं ।''

इसको ठीक प्रकार से समझने की आवश्यकता इसलिए भी है कि एक धारणा गढ़ दी गई है कि राष्ट्रभाषा की अवधारणा पर सबसे अधिक विभेद तमिलनाडु में ही है। यह बात समझनी होगी कि संस्कृत एवं तमिल दोनों भाषाओं में उपयोगी वर्णलिपि में लगभग एकरूपता है जो दोनों भाषा की अन्तर सादृश्यता को प्रमाणित करता है। किसी भी अनार्य भाषा में इस प्रकार का वर्णक्रम देखने को नहीं मिलता। तमिल लिपि में नाम एवं अक्षरध्वनि की एकसुरता से भी यह सिद्ध होता है कि तमिल एक पूर्ण आर्यभाषा है। जो वैशिष्ट्य तमिल भाषा लिपि में है, वह आर्यभाषा के अतिरिक्त और किसी भाषा में नहीं मिलते हैं।

काल के अनुसार तमिल अपने मूलाधार के साथ अपने परिवेश,साहित्य और संस्कृति को गढ़ती रही जिसका यहाँ विश्लेषण अपेक्षित नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह कभी भारतीय आर्यभाषाओं की विरोधी,प्रतिद्वन्द्वी नहीं रही जैसा कि भाषाविदों, यूरोपियों ने गढ़ने और मढ़ने का हमारे तथाकथित विद्वानों के माध्यम से किये; और कर रहे हैं। संस्कृत पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का स्वरूप ग्रहण करती वर्तमान में हिन्दी के रूप में है; अर्थात् हिंदी लगभग 3500 वर्ष पुरानी संस्कृत की ही स्वरूपगत परिवर्तित भाषा है। हिन्दी दिवस प्रत्येक वर्ष 14 सितम्बर को मनाया जाता है। 14 सितंबर, 1949 को संविधान सभा ने एक मत से यह निर्णय लिया था कि हिन्दी ही भारत की राजभाषा होगी। इसी महत्त्वपूर्ण निर्णय के महत्त्व को प्रतिपादित करने तथा हिन्दी को हर क्षेत्र में प्रसारित करने के लिये राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा के अनुरोध पर सन् 1953 से संपूर्ण भारत में 14 सितंबर को प्रतिवर्ष हिन्दी-दिवस के रूप में मनाया जाता है।

जरा गौर करें- यहाँ दो बातें समझ में आती हैं। पाणिनि काल में क्या था, मुझे उस पर कुछ नहीं कहना; किन्तु बाद के व्याख्याकारों ने संस्कृत को दो भागों में बाँट दिया। पाणिनि के बाद संस्कृत लौकिक हुई तो स्पष्ट है उसके पहले की संस्कृत वैदिक हो गई। कालान्तर में यह लौकिक संस्कृत हिन्दी के रूप में हमारे सामने आई। मेरी शंका यह है कि हिन्दी जिसे आज खड़ी बोली कह सकते हैं क्या वह वास्तव में तत्सम प्रधान हिन्दी है? कम से कम वह हिन्दी तो नहीं ही है जिसे डॉ. रामविलास शर्मा जी हिन्दी प्रदेश के अन्तर्गत मानते हैं। वर्तमान दृश्य को देखें तो स्पष्ट होगा कि मैथिली, छत्तीसगढ़ी जैसी हिन्दी की बोलियाँ न केवल हिन्दी से कटी, बल्कि हिन्दी प्रदेश में भाषा और

उपभाषा के संघर्ष में उलझ गईं।

वस्तुत: जब एक बार सहूलियत के लिए हम वर्गीकरण पर उतरते हैं तो वह मुर्दे का धारा में बहना जैसा होता है। किसी समाज के जीवन का पुरुषार्थ तैरने में होता है, बहने में नहीं। संस्कृत सनातन राष्ट्र की अभिव्यक्ति रही है। जैसे-जैसे हम सनातन शब्द को छोड़ते गये, वैसे-वेसे ही हम संस्कृत के रूप में परिवर्तन करते गये। वैदिककाल सनातन राष्ट्र का परिचायक रहा तो संस्कृत भाषा की पहचान रही। कालान्तर में सनातन शब्द छूटा और लौकिक संस्कृत आ गई। हिन्दुराष्ट्र की संकल्पना मंद होते ही यह लौकिक संस्कृत भी हिन्दुई, हिन्दुस्तानी होते-होते आज इण्डिया के साथ हिंग्लिश की मान्यता प्राप्त कर रही है। खड़ी बोली को हिन्दी और उसे फिर राजभाषा कहने पर कई वैचारिक अधिष्ठानों को सहूलियत है। खड़ीबोली ई.१८५० के बाद हमारे सामने आती है। जब भाषा आती है तो चाहिए तो यह कि वह अपने मूल के साथ आये किन्तु यह होता नहीं। परिणाम वह वर्तमान की संवाहक बन कर रह जाती है। उसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण होता है। सरलता के नाम पर शब्दों का गढ़न और चलन होता है। इसमें भी कोई हर्ज नहीं किन्तु समस्या तब आती है जब हम भाषा को राष्ट्र अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करते हैं किन्तु उसमें तत्सम गायब होता है।

तात्पर्य यह कि तत्सम से कटने के बाद केवल वैदिक संस्कृत नहीं छूटी तो वेद छूट गये, उपनिषद ओझल हो गये। पुराणों की व्याख्या कल्पना लोक की वस्तु बन गई। इसलिए काल का बोध समाप्त हुआ।

जरा समझें ॐकार को जिस एक मात्रा या अक्षर का 'अ' का ध्यान करने से ऋग्वेद का ज्ञान होता है और प्रणव ओम की दो मात्रा या अक्षर 'अ +उ' का अलग-अलग ध्यान करने से यजुर्वेद का ज्ञान होता है। तीन मात्राओं पर 'अ, उ, म' का अलग-अलग ध्यान करने से वह सामवेद का ज्ञान हो जाता है। पृथ्वी तत्त्व अर्थात् सभी भौतिक प्रदार्थों की विशुद्ध मूल अवस्था का प्रतिपादन ऋग्वेद करता है; आकाश तत्व या अन्तरिक्ष अर्थात् विशुद्ध सूक्ष्मजगत का ज्ञान युजुर्वेद कराता है; और सामवेद वहाँ ले जाता है, उस तत्त्व का अपरोक्ष बोध कराता है जिसे दृष्टा ऋषियों ने बोध किया है। उस स्थान पर पहुँच कर बोधवान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ओम में स्थित हो, ओम के सारतत्व को जान लेते हैं; एवं उस परमशान्ति में स्थित हो जाते हैं, जहाँ जीवन की सीमा नहीं अर्थात् अस्तित्व अखण्ड हो जाता है एवं उस अमृतपान से मृत्यु भय समाप्त हो जाता है, यह है संस्कृत भाषा का सामर्थ्य।

वैदिक से लौकिक की यात्रा करते भाषा जहाँ पहुँची, उसने अतीत की खाई वर्तमान के साथ बढ़ा दी और परिणाम यह हुआ कि हमारे काल के नायक, युगपुरुष जानबूझकर केवल आदर्श के रूप में खड़े कर दिए गये। जिन युग पुरुषों को योगी अरविन्द, विवेकानन्द, गाँधी ने अपना आदर्श मान कर जीवन में उतारा वे इस देश की नई पीढ़ी की आँखों से केवल पूजा की प्रतिमा बन कर रह गये; उनके बोधवाक्य,उनके कथन और आचरण दीवारों, पोस्टरों की वस्तु बन गये; सिनेमा के अनाचरित पात्र रूपों को चरित करने में काम आने लगे।

जरा इसकी पड़ताल उनकी नजरों से भी करें जो मेकाले को अपना भाग्यविधाता मानते हैं। वह क्या कहता है- मैकाले ने ब्रिटिश पार्लियामेन्ट भारत के सम्बन्ध में अपने निष्कर्ष को रखते हुए कहा था, '' मैं पूरे भारतवर्ष में उत्तर से दक्षिण तक, पश्चिम से पूरब तक घूमा हूँ और मुझे यहाँ एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला, जो भीख माँगता हो, जो झूठ बोलता हो, जिसके आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि हो और इसका कारण इस देश की संस्कृत भाषा और संस्कृति है, जिसको रीढ़ की हड्डी समझकर जब तक तोड़ नहीं देंगे, हम ब्रिटिश शासक जब तक भारतवासियों के मन में इस बात को नहीं पैदा कर देंगे कि जो कुछ भी उनका है, वो हमारे विदेश के शासकों के देश से नीचा है, उससे बुरा है और हम उनसे अच्छे हैं, तब तक देश में राज्य नहीं कर सकते।''

क्या स्वतंत्रता के बाद से आज तक हमारी वामपंथी-दक्षिणपंथी साहित्यिक बिरादरी संस्कृत को उखाड़ने में उनका सहयोग कर रही है ! तो जरा ब्रह्म से उतर कर ईश्वरीय अवधारणा को भी समझने का प्रयत्न करें। संस्कृत के छोड़ने का क्या अर्थ हो सकता है, जरा उसे कुछ इस प्रकार समझें- वैदिक ऋषियों की ईश्वर की अवधारणा क्या थी? ईश्वरी एक मंत्र आता है- 'उदितम् जात् वेदम् सम् देवम्'-वह दृष्टि- 'विश्वाय सूर्यम्'। उसका अर्थ यह है कि जैसे इस संसार को दिखाने के लिए सूर्य की हजारों रश्मियाँ हैं, असंख्य किरणें हैं- उसी तरह उस जात वेदस् को दर्शाने के लिए इस सृष्टि के असंख्य नियम हैं। यह हमारी वैदिक बुनियाद है जिसे मेकाले सुत हमारे नादान वाग्विलासी नहीं समझ पा रहे हैं। ब्रह्मसूत्र कहता है- 'तत् तू समन्वयात्'। दरअसल उस मूल ईश्वरत्व को जानना यूँ है जैसे सारा संसार नियम को समझ लेना है; क्योंकि कोई भी चीज़ बिना अधिष्ठान के नहीं है। संस्कृत से समस्त भारतीय भाषाओं के अन्त:प्रवाह को समझना हो तो थोड़ा सा संस्कृत प्रसूत वर्णमाला को फिर से लौकिक आधार पर देखें। यह अ, इ उ आदि से प्रारंभ होकर 'ज्ञ' तक जाती है। दुनिया की किसी भी वर्णमाला के औचित्य का समाधान आपको नहीं मिलेगा; किन्तु संस्कृत से आयी वर्णमाला को थोड़ा समझें तो संस्कृत का महत्त्व मेकाले क्यों बता रहा है, समझ में आ जायेगा।' अ,इ,उ, क, ख, ग, घ', देवनागरी लिपि के पीछे आपको तर्क मिलेगा। जैसे सिर्फ़ 'अ' लें। 'अ, इ' सबसे पहले के वर्ण हैं। इनका आकार ऋषियों का बोध है।

'अ' का अर्थ शब्दकोष में दो हैं- एक पूर्णता का द्योतक है, दूसरा अभाव का; अर्थात् अभाव और पूर्णता- दोनों उपस्थित हैं। जैसे विवेक के आगे आप 'अ' लगा दें तो 'अविवेक' हो जाता है; नकरात्मक अर्थ हो जाता है, अभाव हो जाता है। लेकिन उसी 'अ' को आप दीर्घ कर दें, कण्ठ में 'आ' लगाकर 'आकण्ठ' कर दें, तो पूरा कण्ठ भर जाता है। शून्य का आकार पूर्णता का भी द्योतक है; और अभाव का भी। शून्य से बड़ा अभाव क्या हो सकता है? सम्पूर्णता का एक चिह्न बनाया। उसमें एक डण्डा लगाया। उससे 'आ' का उच्चारण सीधा निकलता है। एक डण्डा वहाँ खड़ा किया, उसको आड़ा कर दिया, एक गोला रखा। ये प्रतीक हैं। इसी तरह 'इ' है, 'इ' संस्कृत शब्दकोष में गत्यार्थक होता है,गति के अर्थ में आता है। उसका चिह्न क्या बनाया? दुनिया में सबसे अच्छा गति का चिह्न स्वाभाविक चिह्न क्या हो सकता है? नदी की तरह सर्पिल बनाना पड़ेगा। ये सबसे स्वाभाविक चिह्न 'इ' में देखें तो स्पष्ट दिखता है। यह हमारी संस्कृति का संस्कृत के माध्यम से परिचय है।

एक और पड़ताल, वैदिक ब्रह्म,लौकिक ईश्वर से भाषा तक आते-आते दिखता है कि ४००० संस्कृत की पुस्तकों के अनुवाद चीनी में, तिब्बती में हैं। उनमें से केवल २०० पुस्तकें हमारे यहाँ प्राप्त थीं। ३८०० पुस्तकें हमारे यहाँ थीं नहीं। अश्वघोष तक की पुस्तकें सेन्ट्रल एशिया की भित्ति में ढँकी हुई मिलीं जो बाद में खोजी गयी। वस्तुतः यह राष्ट्र जब-जब अपनी अभिव्यक्ति अपनी भाषा में करने का प्रयत्न करता है, तब-तब यहाँ एक ऐसी वामी/ प्रगतिवादी विद्वत्परम्परा है, जो हर चीज़ को नकारती है, अविश्वास पैदा करती है। अगर इन पुस्तकों की प्राप्ति न होती तो ये अश्वघोष को भी नकार देते।

कहने का अभिप्राय यह कि यदि काल और राष्ट्र का बोध रखना है तो राष्ट्रभाषा भी उसी की होना चाहिए; कम-से -कम भारतवर्ष को यदि हम प्राचीन और सनातन राष्ट्र की संज्ञा देते हैं तो उसकी भाषा अर्थात् राष्ट्रभाषा संस्कृत ही होगी जो न केवल आर्य और द्रविण के नाम पर चले आ रहे वर्षों के सप्रयास उत्पन्न किए गये विवाद को समाप्त करेगी बल्कि काल और समय के साथ परिवर्तित भाषाओं के रूप को भी संक्षित कर सकेगी। भारतवर्ष की उस मूल चेतना से वर्तमान को जोड़ सकेगी जिसे सनातन, आर्यावर्त, अजनाभवर्ष कहते आ रहे हैं। जिसके अन्दर न केवल व्यक्ति कि अपितु सम्पूर्ण सृष्टि की चराचर कल्याण की कामना निहित है।

(दो) : राजभाषा

यह कोई नया विषय नहीं है कि दुनिया में जब सत्ताएँ बदलती है तो वे अपने साथ अपनी भाषा भी लाती हैं। कम-से-कम आधुनिक भारतवर्ष में तो यही दिखाई देता है- फारसी इस देश की राजभाषा रही; अंग्रेजी इस देश की राजभाषा रही; किन्तु स्वतंत्र भारत में घोषित होने के बाद भी हिन्दी स्वतंत्र राजभाषा नहीं बन पाई। यह आवश्यकता है कि राजकाज की भाषा जिसे हम सम्पर्क भाषा भी कह सकते हैं वह हिन्दी ही होनी चाहिए। जब हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा कहने या उत्तर से दक्षिण तक उसके समर्थन का प्रयास करते हैं तो अनेक प्रांतों की आपत्तियाँ आती हैं। यह जायज भी है; क्योंकि हम स्पष्ट नहीं करते कि यह राजकाज की भाषा है जिसे संविधान ने राजभाषा कहा है। फिर उसे क्या राष्ट्रभाषा कहकर हम एक सोची समझी औपनिवेशिक मानसिकता और कम्पुनिष्ट के उस चिन्तन को हवा नहीं देते जिसमें वे धर्म को अफीम कहते हैं। 'संस्कृति' को 'लाईफ स्टाइल' और 'जीवन बोध' को 'जीवन मूल्य' कहते हैं। जिस धर्म की बात स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं वह यूरोप में जन्मा धर्म नहीं है। वह वैदिक ऋषियों का बोध है जो चिरन्तन है, सनातन है और उसकी अभिव्यक्ति का आधार संस्कृत है। गाँधी के जिस सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह को हम अपने कंधों पर बैज लगाकर फिर रहे हैं। बैज इसलिए कहता हूँ कि बैज विशेष यूनीफार्म के साथ लगता है, उसका अन्दर के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रकार घर पहुँचते यूनीफार्म को हैंगर में लटका देते हैं उसी प्रकार इस बैज को भी प्रतिष्ठा का विषय मानते हुए थाती के रूप में सहेज कर रख देते हैं। जिसका फिर नये अवसर पर उपयोग होगा।

सोचना होगा कि गाँधी के जिस बैज को हमने अपने बाह्य प्रदर्शन की वस्तु बनाया है वह हमारे अन्त: की वस्तु है, वह संकल्प है, वह बोध है; और यह बोध प्रात:स्मरणीय उन श्लोकों में हैं जिन्हें अनजाने हम संस्कृत के उच्चारण के साथ अन्दर तक स्पर्श करते हैं। फिर हम ७१ वर्ष बाद यह तय नहीं कर पा रहे हैं कि लोक की मान्यता के आधार पर, उत्तर से लेकर दक्षिण तक इतना ही नहीं तो जर्मन, फ्रांस सहित अनेक देशों पर जिस भाषा अर्थात् संस्कृत के आधार पर भारतवर्ष को समझने जानने का प्रयत्न हो रहा है, वह हमारी राष्ट्र की अभिव्यक्ति का माध्याम क्यों नहीं हो सकती। जैसे हमने अपने राष्ट्रपुरुषों को अपने पूजा घर में रख दिया है, वैसे ही संस्कृत ग्रंथों और भाषा को कुछ निर्धारित कर्मकाण्डों के लिए समर्पित किया है। आज आवश्यकता है कि राष्ट्रनायक पूजा घर से बैठकों में आएँ जिसे साहित्यकारों ने अपने मैडल, पुरस्कार, प्रशस्ति से भर रखा है। तभी धीरे से वे हमारे जीवन में उतर सकेंगे और उनके जीवन में आते ही 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मंगलानाम् च कर्तारौ वन्देवाणीविनायकौ।' हमारे जीवन में बोध होगा। तभी तुलसी के समान हमारी अभिव्यक्ति शिव और पार्वती के माध्यम से श्रद्धा और विश्वास के रूप में प्रकट हो सकेगी।

साहित्यकार तुलसी को तो मानता है किन्तु मानस का जीवन में पारायण करने से अबोध है। बाल्मीकि को तो कुछ साहित्यिक समाज पूरे सिद्दत के साथ जातीय पूर्वज बना कर ही मानने को संकल्पबद्ध हैं। ऐसे में यदि राष्ट्र को राष्ट्र के मान बिन्दुओं को अभिव्यक्ति देना है तो देवभाषा को फिर से राष्ट्रभाषा के रूप में घोषित मान्यता, लिखित संकल्प देना ही चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण भारत के जन-जन में, चाहे वह भारतीय कम्युनिष्ट हो या अन्यपंथी सभी के अन्दर वह रक्त के साथ प्रवाहित है। कहीं उसकी अभिव्यक्ति क्षेत्रीय बोलियाँ, भाषाएँ, मातृभाषाएँ कर रही हैं तो कहीं, पंथीय भाषाएँ अथवा खड़ी बोली जैसी राजभाषा। हम कुछ तथ्यों के साथ आपको बताना चाहते हैं कि संस्कृत कैसे सर्वसमावेशी सर्वमतानुयायिओं की मान्य भाषा है। जरा इस सूची को पढ़े। इसमें देश ही नहीं, हिन्दू संस्थाएँ ही नहीं, सरकारी संस्थाएँ ही नहीं, विश्व विद्यलाय ही नहीं, विदेशी भी अपने संस्थानों के ध्येय वाक्य, घोष वाक्य को

, संस्कृत सूक्तों द्वारा किस प्रकार स्वीकृत करते हैं। एक लम्बी सूची है। यहाँ कुछ उदाहरण के रूप में दिए जा रहे हैं जिससे सभी दृष्टियों का प्रतिनिधित्व हो सकेगा और चीजों को समझने में सहायता मिलेगी।

यथा- 'गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय' हरिद्वार, उत्तराखण्ड का बोधवाक्य 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'।, 'अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' का बोधवाक्य 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'।, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का 'ज्ञान-विज्ञानं विमुक्तये।', काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का 'विद्ययाऽमृतमश्नुते।', आन्ध्र विश्वविद्यालय का 'तेजस्विनावधीतमस्तु'।, बंगाल अभियांत्रिकी एवं विज्ञान विश्वविद्यालय, शिवपुर का 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।', भारतीय प्रशासनिक कर्मचारी महाविद्यालय, हैदराबाद का 'संगच्छध्वं संवदध्वम्।', बिड़ला प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान संस्थान, पिलानी का 'ज्ञानं परमं बलम्।', केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का 'असतो मा सद् गमय।', प्रौद्योगिकी महाविद्यालय, त्रिवेन्द्रम का 'ज्यायो हि अकर्मण:।', भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान कानपुर का 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।', भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान चेन्नई का 'सिद्धिर्भवति कर्मजा।', भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान रुड़की का 'श्रमं बिना न किमपि साध्यम्।', भारतीय प्रबंधन संस्थान अहमदाबाद का 'विद्या विनियोगाद्विकास:।', भारतीय प्रबंधन संस्थान बंगलौर का 'तेजस्विनावधीतमस्तु।', भारतीय प्रबंधन संस्थान कोझीकोड का 'योग: कर्मसु कौशलम्।', भारतीय सांख्यिकी संस्थान का 'भिन्नेष्वेकस्य दर्शनम्।', मोतीलाल नेहरू राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान इलाहाबाद का 'सिद्धिर्भवति कर्मजा।', राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् का 'विद्ययाऽमृतमश्नुते।', संत स्टीफन महाविद्यालय, दिल्ली का 'सत्यमेव विजयते नानृतम्।', दिल्ली विश्वविद्यालय का 'निष्ठा धृतिसत्यम्।', केरल विश्वविद्यालय का 'कर्मणि व्यच्यते प्रज्ञा।', पेरादेनिया विश्वविद्यालय का 'सर्वस्य लोचनं शास्त्रम्।', विश्वेश्वरैया राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान का 'योग:कर्मसु कौशलम्।', पश्चिम बंगाल राष्ट्रीय न्यायिक विज्ञान विश्वविद्यालय का 'युक्तिहीने विचारे तु धर्महानि: प्रजायते।', केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड का 'असतो मा सद्गमय।', हिंदी अकादमी का 'अहम् राष्ट्री संगमनी वसूना।', डाक तार विभाग का 'अहर्निशं सेवामहे।', सेना एयर डिफेन्स का 'आकाशेय शत्रुन् जहि।',भारतीय खनन विद्यालय धनबाद का 'उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्यवरान्निवोधत्।', सेना डोगरा रेजिमेन्ट का 'कर्तव्यम् अन्वात्मा।', सेना ई एम ई कोर का 'कर्म: हि धर्म:।', नेशनल कौंसिल फॉर टीचर एजुकेशन का 'गुरु: गुरुतामो धाम:।', नेपाल सरकार का 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।', इंडोनेशिया-जलसेना का 'जलेष्वेव जयामहे।', बंगलौर विश्वविद्यालय का 'ज्ञानं विज्ञान सहितम्।', उस्मानिया विश्वविद्यालय का 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।', पंजाब विश्वविद्यालय का 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।', हरियाणा बोर्ड का 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।', लोक सभा का 'धर्मचक्र प्रवर्तनाय।', सैनिक स्कूल चित्तौड़ का 'न दैन्यं न पलायनम्।', मैसूर विश्वविद्यालय का 'न हि ज्ञानेन सदृशम्।', वायु सेना का 'नभ:स्पृशं दीप्तम्।', असेह राज्य (इंडोनेशिया) का 'पञ्चचित।', सेना कुमायू रेजिमेन्ट का 'पराक्रमो विजयते।', सेना जम्मू काश्मीर रायफल का 'प्रस्थ रणवीरता।', सेना कश्मीर लाइट इंफैन्ट्री का 'बलिदानं वीर लक्ष्यं।', सैन्य अनुसंधान केंद्र का 'बालस्य मूलं विज्ञानम्।', उच्चतम न्यायालय का 'यतो धर्मस्ततो जय:।', सेना महार रेजिमेन्ट का 'यश सिद्धि।', सैन्य विद्यालय का 'युद्धं प्रज्ञाय।', भारतीय प्रशासनिक सेवा अकादमी का 'योग: कर्मसु कौशलं।', भारतीय जीवन बीमा निगम का 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।',संत जेवियर स्कूल बोकारो का 'रूपांतरीकरणीय।', भारतीय तट रक्षक का 'वयम् रक्षाम:।', सेना शिक्षा का 'विद्यैव बलम्।', श्रम मंत्रालय का 'श्रम एव जयते।', दूरदर्शन का 'सत्यं शिवम् सुन्दरम।', भारत सरकार का 'सत्यमेव जयते।', मुंबई पुलिस का 'सद्रक्षणाय खलनिग्रहणाय।', आल इंडिया रेडियो का 'सर्वजन हिताय सर्वजनसुखाय।', गोवा राज्य का 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्।', थल सेना का 'सेवा अस्माकं धर्म:।', भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी का 'हव्याभिर्भग:

सवितुर्वरेण्यं।'

तात्पर्य यह कि इसके बाद अब कोई तर्क देने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि चाहे-अनचाहे तथाकथित सेक्युलरों की भी सबसे प्रिय भाषा संस्कृत ही रही है। कारण जब इन संस्थानों ने अपने घोष वाक्यों का चयन किया था तब कोई आज की सरकार नहीं थी। अत: ७१वर्ष बाद अब समय आ गया है कि राष्ट्रभाषा संस्कृत हो, राजभाषा हिन्दी हो, राज्यभाषाएँ आठवी अनुसूची में अधिसूचित भाषाएँ, मातृभाषाएँ, अपने-अपने स्थान पर शिक्षा का माध्यम, संस्कार का माध्यम बने। राष्ट्रीयत्व को अगर राष्ट्रवाद के झंझावत से निकाल कर विश्व कल्याण की दिशा में जाना है तो समय की यही माँग है।

(तीन)

७० सालों से हमने अनजाने ही 'अक्षर' को 'साक्षर' में बदलने का बाह्य प्रयत्न किया है। परिणाम, कश्मीर, पश्चिमबंगाल, त्रिपुरा और केरल की वर्तमान दशा है। साक्षरता क्रूरता को नहीं रोक सकी; उच्च शिक्षा भोग से त्याग की ओर न ले जा सकी; कर्तव्यबोध, सेवा, राष्ट्रप्रेम, परोपकार जैसे शब्द उसके पाठ्यक्रम से गायब हो गये। अभिनव गुप्त की भूमि, चैतन्य महाप्रभु की भूमि, शंकरदेव की भूमि, तिरुवल्लुवर की भूमि में निर्दोषों की हत्याएँ नहीं रुक रही हैं। यह विचारणीय विषय है कि आखिर केरल जैसे पढ़े-लिखे साक्षर राज्य में हत्याएँ विचार के लिए हो रही हैं, या सत्ता के लिए। विचार के लिए तो नहीं हो सकतीं। हमने ऊपर अभी केरल के कई संस्थानों के घोष वाक्य देखे हैं जिनमें राष्ट्रीयत्व उद्भासित है। फिर ऐसा क्यों! वस्तुस्थिति को समझने के लिए राष्ट्र को आराध्य मानकर राष्ट्रीय एकात्मता के लिए अपने जीवन को समर्पित करने वाले चिन्तक एवं केरल की बहुपठित पत्रिका के सम्वाद केरल निवासी के अनुभव के निचोड़ को यहाँ यथावत दिया जा रहा है -

1. भारतवर्ष वर्षों से त्रिदोष से पीड़ित है- हिंसावादी साम्यवाद, आतंकवाद, प्रायोजित इस्लाम और ईसाइयत। ईसाइयों ने तो अपने अंदर कुछ strategic परिवर्तन किया हैं किन्तु अन्य दोनों अभी भी अपरिवर्तित है। केरल एक ऐसा प्रान्त है जो तीनों दोषों (कफ, वात तथा पित्त) से पीड़ित है ।
2. तीनों की विचारधारा में विरोध का कोई स्थान नहीं है। अकेले बंगाल में लगभग 30000 से अधिक राजनैतिक हत्याए हुई है। केरल में 1942 में आर.एस.एस. की पहली शाखा खुली। 1948 में पू. श्री गुरुजी पर हमले का षड्यंत्र।
3. Communists do not believe in democratic process. However, they participate in it to damage it from within - EMS Nambudripad.
4. केरल में मुसलमान मुस्लिम लीग का साथ नहीं छोड़ सकते; ईसाई केरल कांग्रेस का साथ नहीं छोड़ सकते। बचे हिन्दु जो अब कम्युनिस्ट पार्टी छोड़कर संघ में आ रहे हैं। इसी से चिढ़कर कम्युनिस्ट लोग स्वयंसेवकों की हत्याएँ कर रहे हैं।
5. अब तक उनके द्वारा लगभग 287 से अधिक स्वयंसेवकों की हत्याएँ की गयी हैं। लगभग इतने ही अपंग कर दिए गये हैं। केरल के अधिकांश पीड़ित निर्धन परिवारों से हैं। फिर भी हिम्मत से इस हिंसा का मुकाबला कर रहे हैं।
6. एक समर्पित कार्यकर्ता राजेश ने निर्धन परिवार के सहायतार्थ अपनी पत्नी का मंगलसूत्र तक बेच दिया। इस प्रकार धन संग्रह अभियान में लगा हुआ था। राजेश जब अपने बच्चे के लिए दूध ले जा रहा था तब गुण्डों ने उसके हाथ काट दिये। पोस्टमार्टम रिपोर्ट में उसके शरीर पर 78 बार कुल्हाड़ी से मारने की रिपोर्ट आई

है। निर्मम हत्याएँ कर आज कम्युनिस्ट पार्टी केरल में सरकार चला रही है।

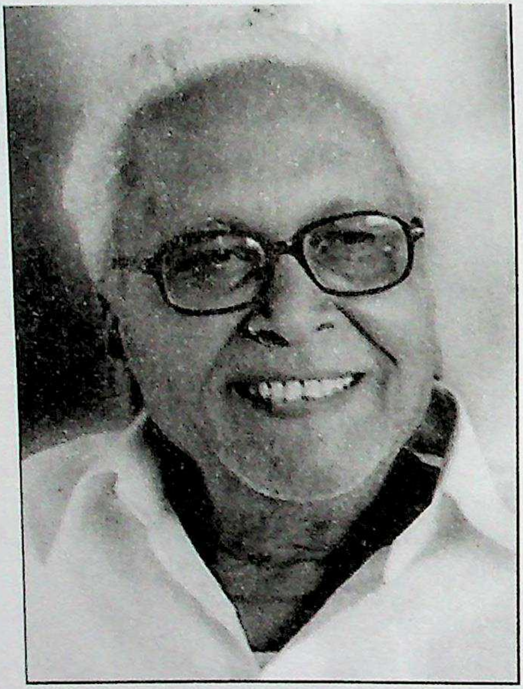
तथ्यों में असहमति हो तो पड़ताल की जा सकती है। असहमति में कई कुतर्क भी हो सकते हैं। यहाँ यह विषय आना चाहिए या नहीं! ऐसे भेद-विभेद-मतभेद भी हो सकते हैं; किन्तु जब हम गल्प पर पूरा महाकाव्य रच डालते हैं तो सत्य पर भी चिन्तन आज की परिस्थिति की माँग है। वैसे भी जब एक ओर साहित्यकार पुरस्कार वापस करता है, दूसरी ओर देश भर के पुरस्कारों की संभावनाओं के आधार पर केवल और केवल कृतिओं के प्रकाशन से लेकर अलंकरण हस्तगत करने के लिए आत्मोत्सर्ग करता है। ऐसे में राष्ट्रभक्त, तटस्थ, सर्वसमावेशी, विचारों में माचिस की तीली रगड़ते साहित्यकार को क्या सोचना चाहिए, विचार करना होगा। स्मरण रखना चाहिए कि 'हंस' जैसी साहित्यिक पत्रिका जिस विचारधारा को पानी पी-पी कर अपशब्द कहती है वही जब विज्ञापन लेना हो तो विचारधारा आड़े नहीं आती। आर्थिक सहायता लेने में कोई भेद-भाव नहीं तो अराष्ट्रीय शक्तियों, यूरोसेन्ट्रिक विचार पोषकों, अलगाववादियों के मुखपत्र बनने की जगह राष्ट्रीय चिन्तन की मूल धारा में सम्मिलित होकर मानवता की सेवा करने में गुरेज क्यों! यही बात 'प्रतिमान' जैसी दर्जनों साहित्यिक प्रत्रिकाओं के लिए भी लागू होती है, भले ही वह विज्ञापन लेती हों या न लेती हों।

वस्तुत: 'वादे वादे जायते तत्वबोध' वाले इस देश में वैचारिक मतभेद हो सकता है, मन भेद क्यों ? हत्याएँ क्यों? नरसंहार क्यों? क्या इस काल में भी साहित्य केवल गल्पों पर, कूटरचित विषयों पर ही भ्रामक विमर्श करता रहेगा। साधुवाद उन सभी चिन्तक मनीषियों का जिन्होंने अभी भी अपनी दिशा और दृष्टि को, चेतना को, राष्ट्र की चिति के साथ जोड़ रखा है। संस्कृत भाषा अपनी सभी संवैधानिक भाषाओं, हजारों बोलियों के साथ एक बार फिर खड़ी हो तो इस देश से यूरोसेन्ट्रिक विचार को नष्ट किया जा सकता है; और मेकाले की उस कामना को भी दफन किया जा सकता है जिसमें वह संस्कृत जैसी भाषा को नष्ट कर राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी को तोड़ना चाहता है। यह केवल 'स्व' और 'स्व' के बोध-जागरण से 'स्वस्थ' होने से अर्थात् अपने 'स्व' में स्थित होने से ही हो सकता है। नान्या: पंथा:। आइये भाषा की इस यात्रा में 'स्व' में अधिष्ठित होने का प्रयास करें। माँ वीणापाणि के तार को झंकृत कर ओम का निनाद कर, नादब्रह्म से शब्दब्रह्म की यात्रा करते हुए माँ भारती को विश्व में गुंजायमान कर शांति दें, सद्भाव दें, प्रकाश दें, बोध दें।

उमेश कुमार सिंह

Umeshksingh58@gmail.com

बालकवि बैरागी से अनिरुद्ध सिंह सेंगर



हिन्दी कवि और लेखक बालकवि बैरागी का जन्म 10 फरवरी 1931 को मंदसौर जिले की मनासा तहसील के रामपुर गाँव में हुआ। बैरागी जी ने विक्रम विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. किया। आप राजनीति एवं साहित्य दोनों से जुड़े रहे। मध्यप्रदेश सरकार के मंत्री तथा लोकसभा के सदस्य रहे और हिन्दी काव्य-मंचों पर भी लोकप्रिय रहे। आपकी कविता ओजगुण सम्पन्न हैं। मुख्य काव्य-संग्रह हैं- 'गौरव-गीत', 'दरद दीवानी', 'दो टूक', 'भावी रक्षक देश के' आदि।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : एक कवि के रूप में आपकी पृथक पहचान है। आपको कविता की प्रेरणा कब और किससे मिली?

बालकवि बैरागी : यह प्रश्न बार-बार मुझसे पूछा जाता है। मुझे अच्छा भी लगता है। यदि मैं सविस्तार उत्तर दूँ तो दस बीस पृष्ठ यह प्रश्न ही अपनी चपेट में ले लेगा। मेरे परिवार का पिछले चार सौ सालों का इतिहास मुझे बताता है कि मुझसे पहिले मेरे परिवार में कवि नाम का जीव कोई नहीं हुआ। हाँ, गायक हुए, संगीतज्ञ हुए, कथा वाचक हुए, खिलाड़ी हुए, मंदिरों के पुजारी हुए; और यायावर गृहस्थ बैरागी हुए। मैं जन्मना बैरागी हूँ। मेरे पिता जन्म से ही अपाहिज थे। दोनों पाँव और दाहिना हाथ उन्हें ईश्वर ने दिये जरूर, पर वे अत्यन्त लाचार और निरीह प्राणी थे। वे गायक अच्छे थे। कथावाचक बहुत अच्छे थे। प्रायमरी से आगे पढ़ नहीं पाये; पर छोटी सारंगी-जिसे चिंकारा कहते हैं, बहुत अच्छा बजाते थे। मात्र बाँया हाथ ही उनका काम करता था। मेरी माँ बिल्कुल निरक्षर थीं पर अनपढ़ नहीं थीं। वह संघर्षों, अनुभवों, साहस और सम्वेदनाओं का विश्वविद्यालय थीं। वह बहुत अच्छी गायिका थी। लोकगीत और भजन उसे कंठस्थ थे। मीरा, सूर, कबीर और तुलसी उसके प्रिय भजनदेव थे। मेरे पिताजी और माताजी की उम्र में मात्र ५ वर्ष का अंतर था। भिक्षान्न पर पलना इस परिवार की विवशता थी। पिताजी 14 वर्ष के थे, माँ ९ वर्ष की थीं, तब ही उनका विवाह हुआ और विवाह के केवल 6 महिनों बाद ही मेरे दादाजी श्री बालमुकुन्द दास जी बैरागी को डोल एकादशी पर मंदिर का विमान धोते समय साँप ने काट खाया तो उनका निर्वाण हो गया। साढ़े १४ वर्ष के मेरे पिता स्व. श्री द्वारिकादास जी बैरागी और साढ़े ९ वर्ष की मेरी माँ श्रीमती धापूबाई बैरागी बिलकुल अनाथ हो गये। घर में न कोई पुरुष था, न कोई महिला। मैं ऐसे जोड़े की पहिली संतान हूँ। मैं खुद, मेरी माँ और मेरे अपाहिज पिता तथा मेरी छोटी बहिन दर-दर, गली-गली, गाँव-गाँव, घर-घर भीख माँगकर अपना पेट पालते थे। मैं जब मात्र साढ़े चार वर्ष का था तब मेरी माँ ने मुझे जो पहिला खिलौना दिया था, वह था भीख माँगने का बर्तन। अपनी आयु के २२ वर्ष तक मैंने स्वयं अपने पाँव में जूता नहीं पहिना। मैं भिखारी, भिखमंगा, मँगता सब कुछ था। मेरे परिवार का भीख माँगना सन् १९५४ में छूटा। मैं स्वयं एक 'स्ट्रीट बेगर' रहा। आटा, रोटी, अनाज, कपड़ा, कापियाँ, किताबें: सब मैंने भीख में माँगकर जुटाये और मेरा परिवार जैसे-तैसे पला और चला। एक जन्मना अपाहिज, लूले, लँगड़े और अपढ़ बच्चे को मेरे नाना श्री लालदासजी बैरागी ने किस तरह और क्यों अपनी बेटी दे दी, यह पूरी कथा व्यथा यदि आप चाहेंगे तो मैं ''मेरी माँ की शादी'' शीर्षक से लिख दूँगा। जब हम भीख माँगते तो भजन गाते हुए माँगते थे। मैं मंदिरों की पूजा करने जाता तो गाते-गाते जाता; और आता। अपना बचपन, अपना अतीत मैं भूल जाऊँ, इसलिये आज भी चूँकि खादी पहिनता हूँ, सो माँगकर पहिनता हूँ। रामजी का दिया-आज सब कुछ घर में है, तब भी मैं अपने मित्रों से खादी माँग लेता हूँ; और वे मुझे सस्नेह देते हैं। इस लम्बी भूमिका से मेरा जीवन शुरू हुआ। गीत, लोकगीत, धर्मगीत और मालवी गीत गाते-गाते उनमें एकाध पंक्ति मैं अपनी ओर से भी जोड़ लेता था। यूँ मैं प्रेरित हुआ और आपके इस प्रश्न का उत्तरदाता बना। प्रेरणा की यह व्यथा कथा बहुत लम्बी और करुणापूर्ण है। मेरे सामने बैठो, और मुझसे बेलाग सवाल पूछो-मैं पूरी विनम्रता से उत्तर दूँगा।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : आपकी साहित्यिक यात्रा कब से आरंभ हुई? और किस विधा में?

बालकवि बैरागी : जिसे आप ''साहित्यिक यात्रा'' कहते हैं वह यूँ शुरू हुई कि जब मैं ९ वर्ष का था और चौथी का विद्यार्थी था, तब हमारे सरकारी स्कूल में प्रतिमाह होने वाली कक्षा प्रतियोगिता से यह श्रीगणेश हुआ। मेरी पितृभूमि मनासा में मात्र कक्षा ७वीं तक का वर्नाक्यूलर फायनल स्कूल था। हम तबकी होल्कर रियासत की प्रजा थे। मैं मनासा का वह विद्यार्थी हूँ जिसे स्कूल में भर्ती कराने न तो माँ गई, न पिता गये। पिताजी चल नहीं सकते थे, माँ कुछ भी नहीं

जानती थी। मुझे मेरे एक पड़ौसी पुरव्या जाति के विद्यार्थी ने पाठशाला में बैठाया और मेरी पढ़ाई शुरू हुई। नगर की आबादी तब मात्र 4500 हजार के आसपास थी। गाँव में दो स्कूल थे। एक छोटा स्कूल और दूसरा बड़ा स्कूल। छोटा स्कूल सरकारी था; पर किराये के मकान में था। वहाँ तीसरी तक पढ़ाई होती थी; और उसके बाद चौथी से सातवीं तक बड़े स्कूल में कक्षाएँ लगती थीं। बड़ा स्कूल आज भी है। उसमें कक्षा प्रतियोगिता का विषय था ''व्यायाम''। इस विषय पर भाषण देना था सभी प्रतियोगियों को। इन्दौर के श्री साकुरीकर साहब हमारे हेड मास्टर थे और श्रीमान पं. भैरवलालजी चतुर्वेदी, श्रीरतनलाल जी मास्टर साहब, पं. श्री रामनाथ जी उपाध्याय, श्री मथुरादासजी अधिकारी, श्री शंकरलालजी पुरोहित, श्री राधाकृष्ण जी व्यास और श्री द्वारका प्रसाद जी दीक्षित जैसे हमारे गुरू गरिमा वाले शिक्षक गण थे। हमारी कक्षा चौथी का प्रतिनिधि मुझे हमारे कक्षा अध्यापक पं. श्री भैरवलालजी चतुर्वेदी ने बना दिया। इस प्रतियोगिता में शामिल होने के लिये अपने जीवन का पहला गीत लिखा-''भाई सभी करो व्यायाम''-यह गीत की ध्रुव पंक्ति थी। मैंने गाते गाते चुपचाप इसमें पंक्तियाँ जोड़ी-दो मुझे याद हैं आज भी-''कसरत से ही नर होते हैं भीमसेन बलवान'' और पाँच छ: पंक्तियाँ और बनाकर अपनी छाप वाली पंक्ति जोड़ी-''कसरत ऐसा अनुपम गुण है कहता है नंदराम-भाई सभी करो व्यायाम।'' मेरा जन्म नाम ''नंदरामदास बैरागी'' है, सो व्यायाम से नन्दराम की तुक भी मिलती है और अपने नाम की छाप भी लगती है, सो ये सात आठ पंक्तियाँ मैंने याद कर लीं। प्रतियोगिता के पूर्वाभ्यास हेतु हमारे स्कूल के सबसे वरिष्ठ अध्यापक पं. श्री रामनाथ जी उपाध्याय ने मुझे बुलाकर पूछा कि ''क्या भाषण दोगे?'' चूँकि उन्होंने ही मुझे अपने जीवन का पहिला मंच ''सार्वजनिक अहिल्योत्सव'' में देना और उसमें मुझसे देशगीत तथा राज्यगीत गवाना शुरू किया था, सो मैंने अपनी ''तुक बंदी'' उन्हें गाकर सुनाई। वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले, ''बेटा नंदराम! यह एक पूरी हिन्दी की कविता है। तैंने गीत के रूप में एक कविता लिख दई है। खूब जियो और खूब गाओ। इस बार अहिल्योत्सव में भी इसे पूरे साजबाज के साथ गाना। शाबास!'' खैर, समय बीता और भाषण प्रतियोगिता में मैंने अपनी कक्षा की ओर से यही गीत गाया। खूब तालियाँ बजी और भरपूर प्रशंसा मिली।

पाँचवी, छठी और सातवीं कक्षा के प्रतिनिधि-प्रतियोगियों ने अपने-अपने भाषण दिये। प्रतियोगिता की अध्यक्षता हेड मास्टर साहब श्री साकुरीकर कर रहे थे। तीन शिक्षक निर्णायक थे। निर्णय घोषित हुआ। हमारी कक्षा चौथी हार गई। सारे सभागार में एक सन्नाटा और बेचैनी छा गई। मेरे कक्षा अध्यापक पं. भैरवलाल जी चतुर्वेदी एकदम 'परशुराम' होकर खड़े हो गये; चीखे ''यह पक्षपात है। सभागार तालियों से गूँज गया मेरा प्रतिनिधि सर्वश्रेष्ठ था। कैसे पराजित हो गया!'' निर्णायक मण्डल ने खड़े होकर समझाया-''प्रतियोगिता भाषण की थी, कविता या गीत की नहीं। प्रस्तुति नंदराम की सर्वश्रेष्ठ थी। ''अब लगातार तालियाँ। साकुरीकर साहब उठे और उन्होंने कहा, ''भाषण का पुरस्कार भाषण वालों को दे दो; पर प्रतियोगिता से सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुति का पुरस्कार दो रुपया कल्दार में नंदराम को देता हूँ। कक्षा चौथी का प्रतिनिधि सबसे ऊपर रहा।'' यह सन् १९४०-१९४१ का प्रसंग है। इसे आप गीत कहें, कविता कहें या तुक बंदी कहें, माँ सरस्वती ने मुझे पहिली बार सहलाया और आशीर्वाद दिया। आप इसे जो भी विधा मानें, वह आपका अपना विवेचन होगा। तब से आज २०१७ तक मैं हिन्दी और मालवी में बराबर कुछ न कुछ लिखता रहता हूँ। सन् १९४१ में उन दो रुपयों ने मेरे परिवार को करीब-करीब एक महिने तक निश्चिन्त रखा। अपने एक विशेष शिक्षक पं. श्री शंकरलाल जी पुरोहित को इस प्रसंग पर मैं विशेष याद रखता हूँ। यदि पं. भैरवलालजी चतुर्वेदी उस दिन अपना 'फरसा' नहीं उठाते तो मैं वहीं ठिठक जाता। सरस्वती कैसे-कैसे अपनी पायल के

घुँघरुँओं को बजाती है उसका एक उदाहरण मैं भी हूँ। आपके प्रश्न ने मुझे पूरे ७७ वर्ष पीछे का पाठ पढ़ा दिया। मैं आभारी हूँ।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : आप साहित्य और राजनीति दोनों में सक्रिय रहे हैं, साथ ही आपने कवि-मंचों पर अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। साहित्य और राजनीतिः दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। आपने इनमें सामंजस्य कैसे स्थापित किया?

बालकवि बैरागी : हाँ, मैं दोनों ही क्षेत्रों में आज भी जुड़ा हुआ हूँ। मैं दोनों को एक दूसरे का विरोधी नहीं मानता। राजनीति में भी साहित्य है और साहित्य में भी राजनीति है। मैं सन् १९४५ में मात्र १४ वर्ष की आयु में ही तबकी इन्दौर राज्य प्रजामण्डल (आज की कांग्रेस) से जुड़ गया था। मेरा दुर्भाग्य यह रहा कि मैं कभी भी स्वतंत्रता संग्राम सेनानी नहीं रहा। मेरा जन्म स्थान रामपुरा (आज की जिला नीचम म.प्र.) है और मैं वहाँ हाईस्कूल में आठवीं (कक्षा ८) का विद्यार्थी था। स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के गुप्त पत्र और सन्देश यथास्थान पहुँचाना मेरा दूत कर्म था। हाईस्कूल और नगर के सार्वजनिक गणेशोत्सव में मैं मंच पर लोगों के लिखे देशगीत गाता और इनाम पाता था। तब रामपुरा में ही इन्दौर राज्य प्रजामंडल के वार्षिकोत्सव में मुझे पहिली बार 'वन्दे मातरम्' गाने के लिये खड़ा कर दिया गया था। तब से मैंने तिरंगा थामा तो आज तक थामे ही रखा है। वहाँ के स्वतंत्रता संग्राम सेनानी मुझसे दूतकर्म इसलिये करवाते थे क्योंकि मैं अपनी गुजर-बसर रामपुरा की गलियों में भीख माँग कर करता था और गणेशोत्सव में मेरी भूमिका के कारण नगर में महत्वपूर्ण लोग मुझे पहिचानते थे। मुझे तब पता नहीं था कि मैं आजादी की लड़ाई में लगे सेनानियों की इतनी महत्वपूर्ण सेवा कर रहा हूँ। सन् १९४७ में आजादी आ गई। मैं मेट्रिक पास करके वापस अपने गाँव आ गया। तब तक मैं दो चार देश गीत लिख चुका था। मैं मालवी और हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखता और गाँव-गाँव गाता। सन् १९४७-१९४८ में पूरे देश की राज्य प्रजामण्डलें कांग्रेस में विलीन हो गईं। इस तरह मैं सन् १९४५ से आज सन् २०१७ तक याने पूरे ७२ वर्षों से कांग्रेस में अपना काम करता आ रहा हूँ। इस महत्वपूर्ण संगठन में आज मैं किसी भी पद पर नहीं हूँ। मुझ पर दल-बदल जैसा कलंक आज-तक नहीं लगा, न मैंने कभी ऐसा सोचा। यह कहानी बहुत लम्बी है। मेरी कलम बराबर चलती रही। मेरी सरस्वती सदैव चैतन्य और जाग्रत रही। यदि आप इस निबाह का कारण पूछते हैं तो मैं अपना सूत्र वाक्य आपको बता देता हूँ। मेरा सूत्र वाक्य है-

''मैं साहित्य को अपना धर्म और राजनीति को अपना कर्म मानता हूँ। मैं साहित्य के मंचों पर कभी कोई राजनैतिक बात या बहस नहीं करता और राजनीति के मंच पर साहित्य की बात बेलाग कर लेता हूँ। लोकतंत्र में असहमति का सम्मान मैं अत्यन्त आवश्यक मानता हूँ। मैं मानता और जानता हूँ कि ''जो लोकतंत्र अपनी असहमति का सम्मान नहीं करता, वह चरित्रहीन हो जाता है। साहित्यिक मंचों पर मैं अपने वैचारिक और बौद्धिक विरोधियों के साथ बहुत आराम से बैठ लेता हूँ। मेरे कई वाममार्गी और दक्षिण पंथी विचारधारा के मित्र मुझे विशेष स्नेह और सम्मान देते हैं।''

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : आप तो सक्रिय राजनीति में रहे हैं। संविधान के ज्ञाता हैं। क्या दलित शब्द संविधान में है? यदि है तो इसका परिप्रेक्ष्य क्या है।

बालकवि बैरागी : जहाँ तक मेरा अध्ययन और अनुभव है वहाँ तक मैं कह सकता हूँ कि संविधान के प्रारूप समिति अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर साहब ने संविधान में कहीं भी 'दलित' शब्द का उपयोग नहीं किया है। एक समय था जब भारत वस्तुतः 'पद-दलितों' का देश था। 'दलित' शब्द पिछली शताब्दी में मराठी साहित्यकारों ने देश को दिया। 'दलित साहित्य' का विपुल सृजन मराठी साहित्य में हुआ। शनैः शनैः अब वहाँ भी कमी आ रही है। हमारा संविधान चूँकि लोचदार है इसलिये अभी तक इसमें सौ के आसपास संशोधन

होने के बावजूद इसमें कहीं 'दलित' शब्द नहीं जुड़ा। हम अपना सारा राजकाज इस संविधान की कृपा से 'अगड़ा वर्ग', 'पिछड़ा वर्ग', 'अन्य पिछड़ा वर्ग', जैसे विशेषणों से ठीक-ठीक ही चला रहे हैं। महात्मा गाँधी का दिया हुआ शब्द 'हरिजन' तक हम अब उपयोग में नहीं लेते। 'दलित' शब्द हमारे यहाँ शास्त्र नहीं अपितु एक शस्त्र है जिसका उपयोग और प्रयोग हम आये दिन समय-समय पर देख रहे हैं। यदि कहीं संविधान में 'दलित' शब्द मिल जाये तो मेरे लिये भी नई बात होगी। अजा और अजजा हमारे शब्द शास्त्रियों ने हमें जाति और धर्म से ऊपर उठाने को दिये।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : वर्तमान दो दशक से साहित्य में दलित तथाकथित जातीय संपन्न, बड़े पदों पर पदासीन तथाकथित दलितों द्वारा एयरकंडीशन कमरों में बैठकर दलितों के पुरोधाओं से आप किस तरह वास्तविक दलित का उद्धार देखते हैं?

बालकवि बैरागी : मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर एक छोटे से वाक्य में दूँ तो वह वाक्य होगा-

''भगवान हमारे इन दलितों के पुरोधाओं को सद्बुद्धि दे।'' भारत में चूँकि जातियाँ हैं सो हम जातियों की बात करते हैं। मेरा अपना प्रकरण आपके सामने है। मैं जन्म जात 'बैरागी' हूँ; वैष्णव हूँ; सवर्ण हूँ; पर मेरा अतीत और व्यतीत मुझसे कहता है कि तूने दलित से भी नीचे की सीढ़ी वाला 'पद-दलित' जीवन जिया है। देश में आज जो दलित की परिभाषा समझाई जा रही है, इस परिभाषा में मेरा विगत आज भी मुझे बेचैन कर देता है। अपना-अपना जीवन, अपना-अपना संघर्ष, अपना-अपना परिश्रम, अपना-अपना पुरुषार्थ ही आपको अपना भविष्य बनाने की प्रेरणा देता है। मेरे नगर मनासा से मेरी मातृभूमि का नगर रामपुरा तब २० मील (अब ३२ कि.मी.) होता था। दूरी आज भी यही है। मनासा में ७वीं पास करके मात्र १३ वर्ष की उम्र में मुझे आठवीं, नौवीं, दसवीं पढ़ने के लिये रामपुरा जाना पड़ा। प्रति सप्ताह मुझे अपनी क्लास में उपस्थित होने के लिए रोज ३२ किलोमीटर पैदल जाना पड़ता था। रास्ते में भूख लगती तो आसपास के गाँवों में भीख की रोटी माँगकर पेट भरता और रामपुरा जाता। यदि मैं भीख देने वाले की जाति और वर्ग पूछकर भीख माँगता तो भूखों मर जाता। आप जिस व्यक्ति से यह प्रश्न पूछ रहे हैं, उसकी मिट्टी से आप परिचित नहीं हैं। वैसे आपके लिये यह जरूरी भी नहीं है। व्यक्ति अपना उद्धार स्वयं करता है। सभी को अपने अपने उद्धार की चिंता है। यदि आप पुरुषार्थी हैं तो स्वयं ही अपना उद्धार कर लेंगे वर्ना प्रतीक्षा करते रहिये अपने उद्धारक पुरोधाओं की।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : सर्वे भवन्तु सुखिन: की कामना वाले राष्ट्र में जाति, वर्ग, संप्रदाय, पंथ, पूजापंथ जैसे खंड-खंड विमर्श ने साहित्य में कैसे स्थान बना लिया है? क्या इसमें आप राष्ट्रीय हित देखते हैं?

बालकवि बैरागी : हमारे शास्त्रों और हमारे संबुद्धि व्यक्तित्वों ने सदैव हमारी संस्कृति और लोक व्यवहार को गर्वित रखा है। उनके वैचारिक महासागर में लहरें लाखों उठी और उठती रहीं, किन्तु उन्होंने सदैव ही वैश्विक मानवता एवं मनुष्यता का ध्यान रखा। अपने लोक व्यवहार में उनकी चेतना में कभी भी भारतीयता और वैश्विकता को खंडित नहीं होने दिया। सत्ता और श्रेष्ठता की हमारी लिप्सा ने हमसे प्रत्येक पल अभेद्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर अपने-अपने स्वार्थों और विविध धार्मिकता की अचाही विभाजन रेखाओं का अटपटा चित्रांकन करवाया। इससे न हमारे समाज का हित हुआ, न हमारे लोक व्यवहार को कोई लाभ मिला और देश-राष्ट्र में प्रत्येक कालखंड में निरर्थक विवाद हुए। यह हमारी धार्मिक आस्थाओं और कर्मनिष्ठा की खुली अवहेलना है। सत्त, समृद्धि, सम्पन्नता और श्रेष्ठता की यह लिप्सा हमसे बहुत कुछ वैसा करवाती रही है जो ''सर्वे भवन्तु सुखिन:'' की अमृत भावना और इच्छा के विपरीत है।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : आज साहित्य की दिशा और दृष्टि क्या होना चाहिए? हम लोकरंजन के लिए

साहित्य लिख रहे हैं या लोक मंगल के लिए!

बालकवि बैरागी : हमारा सौभाग्य है कि हमारे साहित्य-संस्कृति के अत्यन्त विचारशील पूर्वजों ने समझ और पूरी सार्वलौकिक सूझ-बूझ के साथ हमें साहित्य सर्जना की एक निर्मल और संस्कारशील परिभाषा सनातन से ही दे रखी है और वही हमारी कसौटी भी है। हमें उत्तराधिकार में जो कसौटीपरक परिभाषा मिली, वह है- ''सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्'' सृजन ही साहित्य है। इस तराजू का तुला दंड 'शिवम्' है। सत्यम् और सुन्दरम् इस तुला के दोनों पलड़े हैं। 'शिवम्' है हमारा तुलादंड। इसमें कोई पासंग नहीं है। कसौटी स्पष्ट है। आपने जो भी लिखा या कहा है, वह सत्य हो, सुन्दर हो और उसमें सभी के शिव-कल्याण की भावना हो; कोई भी विकृति नहीं हो। ''सर्वे भवन्तु सुखिन:'' और ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' उसका शील हो, चरित्र हो। हम जो भी रचें-लिखें, सृजें वह किसी एक भूखण्ड या किसी एक वर्ग विशेष के लिये नहीं रचें या सृजें। बेशक वह लोक रंजक भी हो, पर उसकी दृष्टि और दिशा 'लोक मंगल' ही हो। लोक रंजना से हमारे साहित्य को कोई चिढ़ या परेशानी नहीं है; पर हमारी दृष्टि और सृष्टि में लोक मंगल हमारा व्रत हो। भारत किसी भी फल या फसल के छिलके और गूदे का फ़र्क जानता है। उसे छिलका फेंकना आता है। अपने काम की चीज़ वह पूरी सावधानी से अलग रख लेता है। पूरी 'महाभारत' पढ़कर हमने अपने काम की चीज़ ''श्रीमद्भगवद्गीता'' निकाल ली। पूरी रामकथा और ''रामचरित मानस'' में से हमने 'सुन्दरकाण्ड' और उसमें से भी ''हनुमान चालीसा'' निकाल ही लिया। दो में से एक ग्रन्थ 'महाभारत' को हम घर में भी नहीं रखते और 'रामचरितमानस' को अपनी पूजाओं में रख लिया। 'हनुमान चालीसा' हमारी पूजा के साथ हमारे ''नित्य पाठ'' का एक महत्वपूर्ण 'ग्रन्थ' बन गया। हम छिलके को परे रखना भी जानते हैं और छिलके का सदुपयोग करना भी खूब जानते हैं। लोक रंजन और लोक मंगल की कसौटियाँ हमारे यहाँ प्रत्येक शब्द को परखना जानती हैं। हम यह भी जानते हैं कि 'सत्य' सदैव 'सुन्दर' नहीं होता और 'सुन्दर' सदैव 'सत्य' नहीं होता; पर हम खूब जानते हैं कि 'शिव' सदैव 'शिव' ही होता है।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : 'जीवन मूल्यों' के क्षरण की अवधारणा परिचय की है। इसको रोकने के लिए साहित्य अपनी भूमिका अदा करता है। वर्तमान में इस संदर्भ में साहित्य की भूमिका के संबंध में आप क्या सोचते हैं?

बालकवि बैरागी : हमें यह तय करना है कि हम स्वयं क्या हैं: हम 'रचयिता' हैं कि 'सर्जक', हम 'विचारक' हैं कि मात्र 'प्रचारक'। विचारक के पास मौलिकता होती है। विचारक के पास किसी की लिखी पटकथा और अपनी शैली होती है जिसमें वह पटकथा को प्रस्तुत करता है। हमारे 'जीवन मूल्यों' को हम समय-समय पर अपने-अपने ढंग से खँगाल लेते हैं। उन्हें साफ सुथरा और स्वस्थ रखने का प्रयत्न करते हैं। उनमें अंश मात्र भी क्षरण हो जाये तो हम चिंतित हो जाते हैं और हमारी दृष्टि अपने प्राचीन-अर्वाचीन और नवीन साहित्य पर जाती है। हम साहित्य से इस क्षरण को बचाने की एक सांस्कृतिक कोशिश करते हैं। समय-समय पर भारत ने इस समस्या का पूरी गंभीरता से समाधान निकाला है। हम सचमुच बड़भागी हैं कि हमारी पीढ़ियाँ सदैव जागरूक और चैतन्य रहीं। साहित्य हमें निराश नहीं होने देता। हमारी कर्मठ कलमें हमें हमेशा ललकारती रहती है। हमारी आराध्या सरस्वती माँ ने हमें पुचकारना और ललकारना: दोनों खूब सिखाया है। किसी भी कालखण्ड के पृष्ठ टटोलिये आपको दोनों वृत्तियों के उदाहरण मिल जायेंगे। वर्तमान में भी साहित्यकार अपनी-अपनी चौकियों पर यह पहरेदारी खूब कर रहे हैं। हमें न चिंतित रहना चाहिये, न निश्चिंत। हमें चौकन्ना रहकर इस क्षरण को रोकने की पहल और प्रयत्न करना चाहिये। आपकी साहित्यिक और सात्विक कर्मठता आपको निष्क्रिय नहीं रहने देगी।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : भू-मंडलीकरण के दौर में साहित्यकार के रूप में आपकी चिंताएं कौन-कौन सी हैं?

बालकवि बैरागी : आपका यह प्रश्न वस्तुतः प्रत्येक साहित्यकार की मनसा-वाचा और कर्मणा को टटोलने की एक प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंश है। मुझे अच्छा लगा। भारत आज भी ज्ञान का देश है। ज्ञान के देश को भू-मंडलीकरण के इस दौर में सामने आकर 'विज्ञान' का सच्चा अर्थ समझाना जरूरी है। वस्तुतः यह हमारी 'ज्ञान सम्पदा' के सदुपयोग का दौर है। संसार भर के आधुनिकतम वैज्ञानिक आज भी बड़ी संख्या में दौड़-दौड़ कर भारत आते हैं। आज के सर्वनाशी विज्ञान से चिंतित वे लोग भी भारत में 'ज्ञान' लेने आते हैं और अपनी चिंताओं से मुक्त होकर जाने का प्रयास करते हैं। भू-मण्डलीकरण ने हमारी भौगौलिक सीमाओं को पार करने की समय सीमा को छोटा कर दिया है। हमारे लोक जीवन और लौकिक सभ्यता पर कई अवांछित सभ्यताएँ अतिक्रमण कर रही हैं। गनीमत है कि हमारे पास हमारी अपनी भारतीय संस्कृति है जो हमें साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रतिरक्षण दे रही है। हमारी आज की चिंताओं में खास चिंता यह है कि हमारी अपनी नई पीढ़ी भू-मंडलीकरण के नाम पर 'विज्ञान' को ही सर्वोपरि मानने का उपक्रम कर रही है। यदि आपके बच्चे आज अपने बाज़ार में जाते हैं तो वे वहाँ या तो नया जूता खरीदेंगे या नया मोबाइल या कि नया कम्प्यूटर खरीदेंगे। नई या पुरानी प्रकाशित कोई पुस्तक या ग्रन्थ नहीं खरीदेंगे। उन्हें अपने दिनों महिनों और वर्षों तथा पर्वों और त्यौहारों के नाम तक याद नहीं है। वे हिन्दी या अपनी मातृभाषा में अपना नाम लिखना और हस्ताक्षर करना तक नहीं जानते। भू-मंडलीकरण ने हमें ऐसी-ऐसी चिंताएँ दे दी हैं कि हमें अपनी 'भारतमाता' की ओर बार-बार देखना पड़ता है। तरह तरह की चिंताओं के बादल हम पर रोज ही छा जाते हैं और पूरब में उगने वाला सूरज रोज इन बादलों से लड़ता रहता है।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : 'टेक्नोलॉजी' ने भारतीय समाज को पूरी तरह बदल दिया है। क्या इन सुविधाओं से हमारे साहित्यिक कर्म को कोई नई दिशा मिली है?

बालकवि बैरागी : हाँ, जिसे आप 'टेक्नोलॉजी' कहते हैं उसने हमें इतनी 'त्वरा' दी है कि हर सूचना, हर लेख, आलेख, हर रचना, हर सर्जना, हर बोला और हर लिखा हमें अब 'ताज़ा' नहीं लगता। आनन-फानन सब कुछ 'बासी' हो जाता है। साहित्यिक कर्म को नई दिशा यह मिली कि भारत में "पाण्डुलिपि" नामक शब्द और क्रिया ही लुप्त हो गयी। हम शत-प्रतिशत मशीन के गुलाम हो गये। लिखे और बोले की 'व्याप्ति' विश्व व्यापी हो गई। जीवन में 'मधुरता' कम हो गई। कठोरता और कड़ुवाहट बढ़ गई। सोचे-समझे लोगों की भाषा बदल गई। समाज में चिढ़चिढ़ाहट बढ़ी और अपनेपन की ऊष्मा प्रायः समाप्त हो गई। हस्तलेखन समाप्त सा हो गया। मशीनें हमारी सहायक नहीं रह कर मालिक हो गईं। साहित्यिक कर्म को दिशा यह मिली कि "हमारा भविष्य क्या है? इस पर सोचें।" अतीत से तुलना करने का समय गया। आने वाले कल की सोचो।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : साहित्य के गिरते स्तर के लिए आप किसे जिम्मेदार समझते हैं?

बालकवि बैरागी : आज के तथाकथित आधुनिकीकरण और वैज्ञानिकीकरण की हमें स्तरहीनता की तरफ धकेलने की फूहड़ कोशिश के कारण आपका यह प्रश्न पैदा हुआ है। 'स्तर' शब्द एक सापेक्ष शब्द है। यह एकांगी या निरपेक्ष शब्द नहीं है। आप जिस स्तर की अपेक्षा कर रहे हैं उस स्तर के आपके पास न तो श्रोता हैं, न पाठक। कृपया भूलिये मत कि भारत मूलतः श्रुति और श्रोताओं का देश है। पिछली शताब्दी से यह देश पाठकों का देश बनने की प्रक्रिया में प्रविष्ट हुआ है। प्रत्येक श्रोता और प्रत्येक पाठक की अपनी-अपनी रुचि होती है। फिर सबसे बड़ा सत्य और तथ्य यह भी है कि भारत घटते-घटते आज भी पाँच लाख अस्सी हज़ार गाँवों का देश है। विविध धर्मों और विविध जातियों तथा वर्गों एवं समूहों का हमारा भारत २१वीं सदी में भी लोक जीवन

की शैली का प्रमुख देश है। भाषाओं और बोलियों का रंग-बिरंगा प्रभाव हमारे जनजीवन और लोक साहित्य पर बहुत गाढ़ा और गहरा है। सभी के पास 'स्तर' के अपने-अपने मापदंड हैं; अपनी-अपनी परख है। हमारा श्रोता, हमारा पाठक साहित्य को सिर-माथे चढ़ा लेता है और स्तरहीन बातों को बेहिचक दूर रख देता है। उदाहरण और उल्लेख में मैं महर्षि दयानन्द का नाम प्रमाण सहित प्रस्तुत करता हूँ। उन्होंने हमारे सभी वेदों तक का परिष्कार किया। कई ऋचाएँ और मंत्र हमारे वेदों में ऐसे थे जिन्हें पति-पत्नी भी एक साथ नहीं पढ़ सकते थे। दयानंदजी ने उन्हें अलग किया। वेदों को परिशुद्ध किया। उपनिषदों को उन्होंने सर्वोपरि माना और पुराणों को पाखण्ड की संज्ञा दी। आप उनका जीवन पढ़ें तो चकित रह जायेंगे। 'स्तर' का संघर्ष हमारे यहाँ 'शब्द ब्रह्म' से जुड़ा है। एक विराम, एक स्वल्प विराम, एक अल्प विराम और एक पूर्णविराम तक हमारे यहाँ स्तर बदलने की शक्ति रखता है। अपने कथन और लेखन में हमारे पूर्वज और विचारक, चिंतक इन बातों का ध्यान रखते थे और गर्व से कहते थे कि 'आज मैंने एक अल्प विराम बचा लिया अन्यथा अनर्थ हो जाता। हमारे यहाँ 'समय देवता' सबसे बड़ा देवता है जो हर बात के प्रति जिम्मेदार है।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : 'संस्कार' लोक साहित्य से आता है। आपको नहीं लगता कि आज साहित्य से लोक गायब हो रहा है!

बालकवि बैरागी : आप निश्चिन्त रहिये- भारत से लोक, परलोक, पाप, पुण्य, धरम, करम, दान, दक्षिणा, पूजा, पाठ, गुरु, शिष्य जैसे शब्द और इनके निहितार्थ कभी गायब और समाप्त नहीं होंगे। आज लोक बोलियों और लोक भाषाओं में पहले से अधिक लिखा जा रहा है। मैं आए दिन देखता हूँ कि मालवी में गैर मालवी लोग ज्यादा लिख रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओं में लोक बोलियों और भाषाओं की रचनाएँ गद्य, पद्य, कहानी, संस्मरण, यात्रा वर्णन, गल्प आदि में खूब आ रही हैं। हमारे भाई और बहिन इस बिन्दु पर निस्संकोच हैं और हमारे सभी भाषाओं के प्रकाशक उन्हें ससम्मान प्रकाशित करते हैं। भारत में संस्कार सदैव ही लोक से आता है और सदैव-सदा सम्मान पाता है। आप अपने ही पड़ौसी के साथ घड़ी, आध घड़ी बैठिये, आपको ज्ञात हो जाएगा कि वह अपने 'लोक' और लोक से मिली जीवन शैली को कितनी शान से जी रहा है। 'लोक' हमारे साहित्य का वह आँगन है जहाँ हमारी परम्पराएँ आज भी सुरक्षित हैं। आपके घर में कोई सा भी पर्व हो, कोई सा भी त्यौहार हो, सबसे पहले अपने लोक देवता को आप सदैव याद करते और याद रखते हैं। साहित्य में लोक सदैव बना रहेगा और लोक हमेशा साहित्य को अपने कंठ में रखेगा।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक जिस साहित्य को हम हिंदी की धरोहर मानते हैं, आपको लगता है क्या कि आज का साहित्यकार उनसे अंशत: भी परिचित हैं!

बालकवि बैरागी : मेहरबानी करें और अपनी कड़वाहट को खत्म कर दें। सवा सौ करोड़ की जनसंख्या वाले देश में लाखों नहीं, करोड़ों लोग आज भी ऐसे हैं जो कभी हिमालय पर नहीं गये; करोड़ों लोग ऐसे हैं जो गंगा में नहीं नहा पाये; तब भी लोग हिमालय और गंगा को जानते हैं। वे वहाँ जाना और नहाना तथा घूमना चाहते हैं; पर वैसा कर नहीं पा रहे हैं। हमारी साहित्यिक धरोहर और अपने पुरोधा महापुरुषों को चाहे किसी ने देखा या नहीं; पर जानने और पढ़ने की इच्छा सभी के पास है। पूर्णत: परिचित तो हम अपने किसी भी आदि व्यक्तित्व से नहीं हैं, पर अंशत: सभी परिचित हैं। सविस्तार जानने और परिचित होने की इच्छा उनके पास है जरूर, पर जीवन की जटिलता, व्यवस्था की कुटिलता और दिनचर्या की व्यस्तता से अपनी इस इच्छा को कुँआरी ही मार रहे हैं। मैं अपने पिता श्री, अपने दादा श्री और अपने पर-दादा श्री के नामों से तो परिचित हूँ लेकिन उनसे पहिले और पूर्व पीढ़ियों के नामों से परिचित नहीं हूँ। उनके परिचय हेतु मुझे अपने परम्परा और वंशगत भाटों की पोथियों से पूछना पड़ेगा। पता नहीं, आप किस पर

झुँझला रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति सब कुछ से परिचित नहीं हो पाता। उसकी इच्छा तो होती है, पर वैसा वह कर नहीं पाता। स्व. पं. भवानी प्रसाद जी मिश्र हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में माने जाते हैं और हम सभी उन्हें श्रद्धा के साथ 'मन्ना' कहकर सम्बोधित करते थे। एक दिन मैंने उनसे सहज ही पूछ लिया-''मन्ना! आपके जीवन में आपको कौन-सी कमी खलती है?'' उनका अश्रुपूर्ण उत्तर था- ''मत पूछो। मैंने आज तक प्रेमचन्द और निराला को नहीं देखा।'' मेरे प्रश्न ने उन्हें रुला दिया और उनके उत्तर ने मुझे कहीं का नहीं रखा। अपनी कड़वाहट से कृपया आज की पीढ़ियों का उपहास नहीं करें। एक बार मुस्करा दीजिये। बस।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : 'हिंदी' राष्ट्रभाषा का दर्जा क्या कभी संविधान में प्राप्त कर सकेगी।

बालकवि बैरागी : यह एक दीर्घायु प्रश्न है। संसद की राजभाषा संसदीय समिति का मैं कई वर्षों तक एक सम्मानित सदस्य रहा हूँ और उस हैसियत में मैंने पूरे देश का चार या पाँच बार निरीक्षकीय भ्रमण किया है। नौकरशाही की निर्लज्जता से मैंने बीसों बार कहा-सुनी की है। मैं पिछले पचास सालों से कहता आ रहा हूँ, और आज फिर से कह रहा हूँ कि 'राष्ट्र भाषा के प्रश्न पर हिन्दी किसी सरकार, किसी संविधान और किसी संसद की मोहताज नहीं है; वह कल भी भारत की राष्ट्रभाषा थी, आज भी है और कल भी रहेगी; हिन्दी कल भी यहीं थी, आज भी यहीं है और कल भी यहीं रहेगी। सारा संघर्ष राष्ट्रभाषा का नहीं अपितु राजभाषा का है। जो भाषा बाहर से आई है वही बाहर जायेगी। हिन्दी का संघर्ष किसी देश भाषा बोली या प्रादेशिक भाषा से नहीं है। उसका सारा संघर्ष विदेशी भाषा के 'प्रभुत्व' से है। संसार के किसी भी भाषा के साहित्य से हिन्दी का कोई विवाद या संघर्ष कदापि नहीं है। हिन्दी उत्तेजना और हिंसा की भाषा नहीं अपितु धैर्य की भाषा है। हिन्दी की पाचन शक्ति और प्रतीक्षा शक्ति अद्भुत है। वह सारे संसार की भाषाओं से शब्द सम्पदा का लेन देन आराम से कर लेती है। उसे अपने पराक्रम और भविष्य पर पूरा विश्वास है।

राष्ट्रभाषा के संदर्भ में मेरे सोच का मुख्य बिन्दु यह है कि हम हिन्दी वाले खुद यह सोचें कि हम स्वयं हिन्दी में हैं; या नहीं। देश में वही हिन्दी व्यवहार में रहेगी जो गैर हिन्दी जनता द्वारा आकार लेगी। शुद्ध और शास्त्रीय हिन्दी पर शोक सभाएँ करने का यह समय नहीं है। लोक व्यवहार में जो हिन्दी आकार ले रही है उसे आने दीजिये। यह हमारा संकल्प, हमारा व्रत संविधान और सरकारों में ढूँढते हैं। यह कैसे होगा कि आप तो निर्जला एकादशी पर पेट भरकर पानी पियें और दूसरों से कहें कि आप निर्जला एकादशी का व्रत पूरी निष्ठा और पवित्रता से करें। जिस दिन हम स्वयं हिन्दी में हो जायेंगे उस दिन यह सारी बहस अपने आप समाप्त हो जायेगी। जो हाथ हिन्दी में हस्ताक्षर तक करने में काँपते हों, वे कृपया हिन्दी का अभियान ध्वज कैसे थामेंगे! इस पर विचार करें। हिन्दी को आप जिस आसन पर विराजित देखना चाहते हैं उसके प्रति आपका अपना व्रत, संकल्प और आचरण क्या है, यह देखना आवश्यक है। आज संसार के १६० से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई और सिखायी जा रही है और हमारे अपने बच्चे अँग्रेजी स्कूलों में गणवेश पहिने बैठे हुए हैं। संविधान को कोसना बंद करें और स्वयं को राष्ट्रभाषा दर्पण में देखें। असलियत सामने आ जायेगी।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : क्या आज का साहित्य आमजन से दूर होता जा रहा है?

बालकवि बैरागी : आपके इस प्रश्न ने मेरे ठिठके हुए विनोद को गुदगुदा दिया। मैं आपका ऋणी हुआ। जहाँ भी काम में ले सकें, मेरी एक बात को काम में लें। बात यह है कि इस रंग-बिरंगी दुनिया में ''रूप-रंग-राजा-रुपया-रस और ऋतु: ये छः तत्व ऐसे हैं जो सदैव और पल-पल बदलते रहते हैं। यदि आपके साहित्य में सरलता, सरसता, सम्प्रेषणीयता और शिवत्व हैं तो वह आमजन की साँसों में बना रहेगा। इसमें भी सम्प्रेषणीयता

और सरलता पहली कसौटी या परख है। जो गद्य, गल्प या पद्य सम्प्रेषित होकर आपके पाठक या श्रोता के प्राणों को छू लेगा वह प्राणों से नई ऊष्णा के साथ कंठ में आयेगा और कंठ से वह अधरों-ओठों तक आकर लोक में व्याप्ति को प्राप्त करेगा। जब आमजन को सूर, मीरा, कबीर, तुलसी, रज्जब, रहीम और रसखान तक का लिखा आज भी याद है और उसके दैनिक लोक व्यवहार में अक्षर-अक्षर काम का सिद्ध हो रहा है, तब हमें हमारी कोखवती, सतवंती, और सदा सुहागन लेखनी से पूछना चाहिये कि तेरा श्रम और सर्जन की तपस्या सार्थक और सिद्ध है या नहीं? बदलाव की प्रक्रिया में आज हमें बहुत कुछ बदला हुआ दिखता है; पर यह बदलाव हमें साहित्य से दूर नहीं धकेलता है। मैं आश्वस्त हूँ। साहित्य सागर में आमजन तैरना और डुबकी लगाना, सब जानता है। वह घोंघे और कौड़ियाँ फेंक देता है। मोती ढूँढ लाता है और शंखों को अपने पूजा गृहों, मंदिरों, संग्रहालयों आदि में रख लेता है। आमजन की परिभाषा आपको बदलना पड़ेगी। जिसे आप आमजन कहते और मानते हैं, उसके दोनों हाथों में एक-एक मोबाइल हम प्रतिक्षण देख रहे हैं। उसकी साहित्य निष्ठा उसकी अपनी शैली में प्रकट होती है। फूहड़ता और अश्लीलता का मतलब वह खूब समझता है।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : वर्तमान संदर्भ में एक साहित्यकार की क्या भूमिका है?

बालकवि बैरागी : साहित्यकार की भूमिका भारत में सनातन और शाश्वत है। यह भूमिका सुनिश्चित और सर्व परिचित है। समाज और सृष्टि की 'शिव साधना' और 'शिव सर्जना' की उसकी भूमिका आदिकाल से तय है। समाज और मानवता का अमंगल या अकल्याण कभी उसका अभीष्ट नहीं रहा। आज का वर्तमान आने वाले कल का भूतकाल हो जायेगा और बीता ये कल का वह भविष्य था ही। कालातीतता साहित्यकार पर कभी लागू नहीं होती। वह समय के साथ कम चलता है, समय से आगे चलना उसका चरित्र है। वह समय का कान पकड़ कर पूछ सकता है कि यह क्या हो रहा है, और क्यों हो रहा है? यह सनातन और शाश्वत भूमिका ही उसकी सारस्वत साधना और साहित्य है।

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : आपका बैरागी तन और मन संसार के राग में क्या 'रसो वै स:' की अनुभूति कर सका है? कृपया अपना अनुभव बताएँ।

बालकवि बैरागी : आपका यह प्रश्न एक मादक प्रश्न है। मैं जन्मना बैरागी हूँ; पर मैं भी आपकी ही तरह एक बाल बच्चेदार गृहस्थ हूँ। मैं रस में विश्वास करता हूँ और साहित्य के सभी नव रसों का आनन्द पूरी रसिकता के साथ लेता हूँ। मैं कोई सूखा ठूँठ नहीं हूँ। कोंपलें, कलियाँ, भँवरे, तितलियाँ, फूल और पराग मुझे भी रसपान करवाते हैं। कृति और प्रकृति में मैं सरसता ढूँढ़ लेता हूँ। मेरा अनुभव फिर एक सूत्र वाक्य है कि-''वह तना ठूँठ हो जाता है जो अपनी कोंपल का स्वागत नहीं करे।'' ठूँठ होना और रहना कोई नहीं चाहता। रेगिस्तान तक के पास सौंदर्य और सरसता है बशर्ते आप उसे सरस दृष्टि से देख सकें। ईश्वर की हम पर बड़ी कृपा है कि उसने हमें मनुष्य बनाया और भारत में जन्म दिया जहाँ तीन मौसम और छ: ऋतुएँ होती हैं। उसने हमें स्मरण और विस्मरण दोनों शक्तियाँ दीं। यदि हमें विस्मरण शक्ति नहीं मिलती तो संसार एक पागलखाना बन जाता। ''रसो वै स:'' हमारे मानव जीवन का एक मूलमंत्र है। कामुकता रस का पर्याय नहीं है। रस का पर्याय है आनंद और हँसना मुस्कराता सस्मित जीवन। यदि आप धरती पर आकर प्रसन्न और सस्मित नहीं जिये तो ईश्वर भी सौ बार सोचेगा कि आपको अगला जन्म किस लोक में दिया जावे। धरती हमारी माँ है और माँ की गोद में हमने पूरी रस निष्ठा के साथ एक सस्मित और सरस जीवन जीना चाहिये। जी हाँ, मेरा बैरागी तन और मन संसार के राग में पूरी रसलीनता के साथ अपनी आयु का ८७वाँ वर्ष जी रहा है। मैं एक अतृप्त काव्य रसिक व्यक्ति हूँ; स्वयं भी सरस हूँ; पर रसीला नहीं। शुभम! मंगलम्!!

अनिरुद्ध सिंह सेंगर : क्या आप का नाम बचपन से ही बालकवि बैरागी था, या माता-पिता का

दिया कोई और नाम था?

बालकवि बैरागी : इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए आपको मैं २१ नवंबर, १९५१ की तारीख में मनासा में संपन्न हो रही एक सभा में ले चलता हूँ। कैलाशनाथ काटजू जो भारत सरकार में गृह और प्रतिरक्षामंत्री थे, मनासा से कांग्रेस से चुनाव लड़ रहे थे और एक चुनावी सभा को संबोधित करने के लिए वहाँ पर आए थे। तभी सभा संचालक ने मुझे एक कविता पढ़ने के लिए मंच पर आमंत्रित किया। मैंने अपनी एक कविता पढ़ी। उसको सुनते ही काटजू जी ने कहा- दूसरी कविता भी सुनाओ। दूसरी पूरी होने के साथ उन्होंने कहा, तीसरी और इस तरह से फिर चौथी कविता सुनाने को कहा। उस सभा में लगभग ढाई हजार लोग काटजू जी का भाषण सुनने आये थे। उनके कविता सुनने के बाद एक के एक आग्रह को चौथी बार सुनकर मैं अंदर ही अंदर घबड़ा भी रहा था कि कहीं ५वीं कविता सुनाने को कहें और तैयार भी था। तभी उनके विशेष सहायक ने उनसे कहा कि आपको इस सभा में भाषण देना है और यहाँ से जाने के लिए केवल पाँच मिनट शेष हैं।

तब उन्होंने खड़े होकर कहा- मुझे पं. जवाहरलाल नेहरू ने चुनाव प्रचार के लिए भेजा है। यदि आप चुनाव जिता देंगे तो मैं आपकी सेवा कर सकूँगा। शेष यह जो बालक (मैं सामने चटाई में बैठा था और वे मेरा नाम भी नहीं जानते थे) बालकवि बैरागी बैठा है, यह जो कहे, वह आप लोग करिए। उस दिन सभा के बाद जब मैं घर आया और अपने माता-पिता को बताया कि आज श्रीमान काटजू जी ने मुझे 'बालकवि बैरागी' कहकर संबोधित किया है तो उन्होंने भी सहर्ष उस नाम को स्वीकार करते हुए कहा- आज से तुम्हें अपना नंदरामदास बैरागी नाम विसर्जित करना है। इसकी जगह तुम्हारा नाम आज से बालकवि बैरागी होगा। तब से अर्थात २१ नवम्बर १९५१से आज तक यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने पूरे राजनीतिक, सामाजिक जीवन में इसी नाम के साथ जिंदा हूँ। (और अपने पुराने नाम की विसर्जन गाथा को बताते हुए रुँधे गले से भावुक होकर उन्होंने कहा) मेरे माता-पिता 'नंदा' कहकर बुलाते थे। आज जब वे ही नहीं हैं तो आप सोच सकते हैं कि जब उस नाम से बुलाने वाले ही नहीं रहे तो... हाँ कुछ लोग यह कहते हैं कि यह नाम मुझे जवाहरलाल नेहरू ने दिया था। यह बात पूरी तरह गलत है। बालकवि बैरागी नाम मुझे कैलाशनाथ काटजू ने दिया था। सत्य तो यह है कि मेरे पोते, परपोते, पोतियाँ भी मेरा विसर्जित नाम 'नंदराम दास बैरागी' नहीं जानते।

संपर्क : बालकवि बैरागी
पूर्व सांसद, कवि नगर -
पो. मनासा, नीमच - ४५८११०
मो. ०९४२५१०६१३६

***संपर्क :** अनिरुद्ध सिंह सेंगर*
भार्गव कॉलोनी, गुना-473001
मो. ०९८२७२०१६०९

डॉ. बालशौरि रेड्डी

संयुक्त राष्ट्र में हिंदी

हिंदी विश्व में बोली जाने वाली तीसरी बड़ी भाषा है और २२ देशों में ८० करोड़ लोग इस भाषा का प्रयोग करते हैं। साथ ही विदेशों में १४० विश्वविद्यालयों में हिंदी शिक्षण की व्यवस्था है। भारत में स्वाधीनता के पूर्व ही हिंदी एक सम्पर्क भाषा के रूप में उभरकर आई और जनता द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हुई। स्वाधीनता के पश्चात् २६ जनवरी १९५० को हिंदी भारतीय गणतंत्र की प्रशासनिक भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। उस समय से लेकर शासकीय प्रयोजनों में हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए सरकार की तरफ से अनेक कार्यक्रम निर्धारित हुए तथा अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए सरकार की तरफ से अनेक कार्यक्रम निर्धारित हुए तथा अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी को प्रतिष्ठित करने के लिए जो कदम उठाये गये, उनके माध्यम से राष्ट्र में हिंदी के कार्यान्वयन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा होता जा रहा है। हालांकि संतोषजनक रूप में इन निर्णयों का कार्यान्वयन नहीं हो पा रहा है, फिर भी शासन द्वारा उत्साहपूर्वक प्रयास जारी है।

इस परिप्रेक्ष्य में वैश्विक स्तर पर हिंदी की मान्यता बढ़ते देख उत्साहित होकर १९७५ में नागपुर में प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें देश-विदेश के हजारों भाषा-प्रेमी एवं रचनाकारों ने भाग लिया। अनेक संस्थाओं ने इस विश्व हिंदी यज्ञ में अपनी समिधाएँ अर्पित कीं। तीन-चार दिनों तक हिंदी से जुड़ी विविध समस्याओं पर गहन चिंतन-मनन हुआ। तदुपरान्त कुछ ठोस प्रस्ताव पारित हुए। प्रमुख प्रस्ताव था- संयुक्त राष्ट्र संगठन में हिंदी को मान्यता दिलाई जाए। इसके पश्चात् पाँच और विश्व हिंदी सम्मेलन आयोजित हुए और हर बार यह प्रस्ताव पुनः प्रेषित किया जाता रहा और पारित होता गया।

इस क्रम में सातवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो में ६ जून से ९ जून २००३ तक सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन का अनेक दृष्टियों से अपना विशेष महत्व रहा। एक तो हमारे राष्ट्र के भीतर और बाहर भी हिंदी की व्याप्ति के लिए विशेष सौहार्द्र पूर्ण वायुमण्डल तैयार हो गया; और दूसरी बात भारत के अधिकांश नागरिक बड़ी गहराई से यह अनुभव करने लगे कि एक विराट सांस्कृतिक परम्परा वाले इस राष्ट्र की अपनी कोई अस्मिता की भाषा नहीं है; जबकि विश्व के अनेक छोटे-छोटे देशों में भी

प्रशासनिक भाषा के साथ ज्ञान-विज्ञान की भाषा भी वहाँ की भाषा बनी हुई है। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि विश्व के किसी भी देश में अन्य देशों की भाषा वहाँ की प्रशासनिक भाषा नहीं है। अक्सर विदेशी राजनीतिज्ञ एवं साहित्यकार भी हमारी इस अदूरदर्शिता की ओर इंगित करते हैं। तब हमें आत्मग्लानि का सामना करना पड़ता है। भारत विकासशील देशों की पंक्ति में अपनी अग्रणी भूमिका निभा रहा है। ऐसी हालत में हमें अपनी अस्मिता की रक्षा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो गया है।

बात यह है कि सूचना प्रौद्योगिकी, इन्टरनेट, कम्प्यूटर तथा वैश्वीकरण के इस दौर में हमें अपनी अलग पहचान बनाने की नितांत आवश्यकता है। हमारे देश में विभिन्न क्षेत्रों में जो अनुसंधान व प्रयोग हो रहे हैं, वैज्ञानिक क्षेत्र में हमारा जो योगदान सर्वत्र दर्ज होता जा रहा है, साथ ही विकासशील राष्ट्रों के उन्नयन में हमारे राष्ट्र के बुद्धिजीवियों, मनीषियों तथा वैज्ञानिकों की भूमिका सर्वत्र सराही जा रही है। ऐसे में भाषा, वाङ्मय, संस्कृति तथा विज्ञान के क्षेत्रों में हमारे सर्वांगीण विकास के प्रयासों में एक कड़ी वैश्विक स्तर पर हमारी राष्ट्रवाणी को दिगन्त तक ही नहीं, अंतरिक्ष में भी प्रतिध्वनित कराने का सार्थक प्रयास संयुक्त प्रयास संयुक्त राष्ट्र संगठन में हिन्दी को प्रतिष्ठित कराने का संकल्प है।

सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो में आयोजित सातवें विश्व हिंदी सम्मेलन का अपना एक खास वैशिष्ट्य है। संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को सातवीं आधिकारिक भाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने के लिए कुछ ठोस निर्णय लेने के साथ ठोस कदम भी उठाये जायें; इसका एक प्रमुख ध्येय था। भारत की धरती से १७००० किलोमीटर दूर लैटिन अमेरिकी देश सूरीनाम में वहाँ के राष्ट्रपति रोनाल्डो बेनेतिआन ने इस सम्मेलन का उद्घाटन पारम्परिक पद्धति से ज्ञान का दीप जलाकर किया। सम्मेलन में २० देशों के ४०० हिंदी विद्वानों ने सहभागिता की, जिनमें भारत के करीब २०० विद्वानों का प्रतिनिधि मण्डल था। समारोह की सफलता की कामना करते हुए भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति सहित तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने जो संदेश भेजा, उसमें से थोड़ा यहाँ द्रष्टव्य है -

''किसी भी राष्ट्र की संस्कृति और अस्मिता की पहचान उसकी अपनी भाषा से होती है। विश्व में वही राष्ट्र प्रतिष्ठित और सम्मान का पात्र होता है, जिसे अपनी भाषा, संस्कृति और संस्कारों पर गर्व होता है। हम अपनी भाषा के माध्यम से ही अपनी साहित्य, संगीत तथा सभ्यता से परिचित हो सकते हैं। भारत एक प्रजातांत्रिक तथा पंथ-निरपेक्ष राष्ट्र है, जहाँ अनेक मतावलम्बी एवं बहुभाषा-भाषी लोग रहते हैं; और हिंदी उनके बीच एक सम्पर्क भाषा का काम कर रही है। वह हमारी राष्ट्रीयता एकता और अखण्डता को प्रतिबिम्बित करती है। आज वह करोड़ों लोगों की बोलचाल की भाषा बन गई है। हिंदी की प्रगति तथा प्रचार-प्रसार के लिए कार्य करें तो वह दिन दूर नहीं है, जब हिंदी अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर अपना विशिष्ट एवं गौरवमय स्थान बना सकेगी। भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व तत्कालीन विदेश राज्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह ने किया। उन्होंने अपने स्वागत भाषण में जो उद्गार व्यक्त किये, वे यहाँ पर संक्षेप में उद्धृत करने योग्य हैं - ''यह नई शताब्दी का पहला विश्व हिंदी सम्मेलन है। इस सम्मेलन में हिंदी की विश्वव्यापी भूमिका पर हमें बातचीत करनी है। हिंदी भाषा के माध्यम से आर्थिक प्रगति, विकास और समृद्धि संभव है। आज हमें हिंदी को विश्वभाषा बनाना है, उसे अर्थ जगत् एवं व्यापार की भाषा बनाना है। सूचना क्रांति के इस दौर में हिंदी विश्व भाषाओं की श्रेणी में उनके समकक्ष खड़ी हो सके, इसके लिए हमें काम करना है। संख्या बल और भूविस्तार की दृष्टि से भी हिंदी दुनिया की मुख्य भाषाओं में से एक है। श्री दिग्विजय सिंह ने अपने वक्तव्य में यह भी निर्देश किया कि यह सातवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन 'विश्व हिंदी: नई शताब्दी की चुनौतियाँ' विषय पर केन्द्रित है। विश्व में हिंदी आज विश्वशांति, स्नेह और सद्भाव का प्रतीक बन गई है। अतः इस

विषय पर गंभीर विचार-विमर्श कर हमारा मार्गदर्शन करें। मैं भारत सरकार की ओर से पूर्ण सहयोग का आश्वासन देता हूँ।''

६ जून से ९ जून तक सुबह-शाम कुल समान्तर सत्रों को मिलाकर तेरह सत्र आयोजित थे, जिनमें प्रथम सत्र 'संयुक्त राष्ट्र संघ में हिंदी' विषय पर केन्द्रित था, जिसकी अध्यक्षता हिंदी के विख्यात कथाकार एवं चिंतक श्री कमलेश्वर ने की। सत्र के प्रमुख वक्ता थे- सर्वश्री वेदप्रताप वैदिक, डॉ. मुकुन्द द्विवेदी, हिमांशु जोशी, डॉ. रामशरण जोशी इत्यादि। इस सत्र में विद्वानों ने जोशीले शब्दों में अपने जो विचार व्यक्त किये, उनका सार-संक्षेप यों है - ''भारतीय संसद से अनुरोध किया जाए कि संसद सर्वसम्मति से यह संकल्प पारित करे कि संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को आधिकारिक भाषा बनाया जाए।'' डॉ. वेद प्रताप वैदिक ने कहा था कि हिंदी संयुक्त राष्ट्र की भाषा शीघ्र बन सकेगी। डॉ. रामशरण जोशी ने संयुक्त राष्ट्र में अपने अनुभवों को व्यक्त करते हुए कहा कि अभी तक हिंदी पत्रकारों को सभी प्रेस सामग्री अंग्रेजी में दी जाती है, अत: जरूरी है कि वहाँ दुभाषियों, अनुवादकों के साथ-साथ आधुनिक कार्यालय पद्धति की उचित व्यवस्था की जाए। हिमांशु जी का मानना था कि हमें अपने देश में हिंदी की स्थिति को मजबूत बनाना चाहिए ताकि हिंदी अपनी शक्ति के बल पर संयुक्त राष्ट्र की भाषा बने। अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री कमलेश्वजी ने कहा- ''हम अपने संकल्पों को सही मायने में कार्यान्वित करने के लिए सार्थक प्रयास करें।'' उन्होंने इस संदर्भ में इस बात की भी चेतावनी दी कि- हिंदी का राजनीतिकरण न किया जाए; क्योंकि हिंदी हिंसा, हत्या और परमाणु बम की भाषा नहीं। यह शांति, सौहार्द्र, सद्भाव और सह अस्तित्व की मानवीय जनभाषा है। इसीलिए यह संसार के कोने-कोने में स्वीकार्य और लोकप्रिय है।

सम्मेलन के अंतिम सत्र में सर्वसम्मति से दस प्रस्ताव पारित हुए जिनमें 'संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को आधिकारिक भाषा बनाने का संकल्प' वाला प्रस्ताव प्रथम था। इस सम्मेलन ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि विश्व में बोली जाने वाली दूसरी बड़ी भाषा हिंदी, जिसका प्रयोग लगभग २२ देशों में ८० करोड़ से भी अधिक लोगों के द्वारा किया जाता है, अभी तक संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा नहीं बन सकी है। आधिकारिक भाषा बन जाने के उपरान्त विश्व की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अपनी भाषा के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र की गतिविधियों तथा क्रियाकलापों से अवगत होगा तथा हिंदी का प्रयोग करने वाले देश भी वहाँ अपनी बात प्रभावी ढंग से रख सकेंगे। इससे हिंदी भाषा का भी नये क्षेत्रों में प्रवेश होगा, जो इसके विकास एवं उन्नयन में सहायक होगा। इसी प्रकार यह सम्मेलन भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाने के संकल्प का स्वागत करता है; तथा हम सब उनसे आग्रह करते हैं कि इस संबंध में परिणामजनक, त्वरित एवं प्रभावी कार्यवाही करें। यह सातवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन भारत सरकार से अनुरोध करता है कि हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा बनाने हेतु वह संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों का समर्थन प्राप्त करने, इसके लिए अनुकूल वातावरण बनाने एवं अपेक्षित धनराशि का प्रावधान करने के साथ-साथ अन्य सभी आवश्यक एवं प्रभावी कार्यवाही करे। इस संबंध में भारत सरकार ने एक समिति बनाई हुई है। हमारा आग्रह है कि वह इस कार्य को त्वरित गति से आगे बढ़ाए। इस सम्मेलन का एक सुखद परिणाम यह है कि हिंदी भाषा को विश्व स्तर पर स्वीकार्य कराने की पहल करते हुए भारत ने इसे संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा के रूप में स्थापित करने की दिशा में काम करना शुरू कर दिया है, जिसके सितम्बर तक पूरा होने की संभावना है।

भारत सरकार ने हिंदी को सुंयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा बनाने पर जोर देने के लिए तत्कालीन विदेश मंत्री श्री यशवंत सिन्हा की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया है, जिसके उपाध्यक्ष तत्कालीन

विदेश राज्यमंत्री श्री विदिग्वजय सिंह ने यह जानकारी देते हुए कहा था कि हमारी कोशिश है कि संयुक्त राष्ट्र के सितम्बर में होने वाले अधिवेशन से पहले हिंदी संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषाओं में से एक हो जाए। ज्ञातव्य है कि संयुक्त राष्ट्र में अभी छः आधिकारिक भाषाएँ हैं। किसी भाषा को संघटन की आधिकारिक भाषा का दर्जा देने के लिए उसे आधे सदस्य देशों का समर्थन पाने की आवश्यकता है। भारत इसके लिए प्रयत्नशील है। आपने इस संदर्भ में यह भी बताया कि शुरुआती कार्य के लिए एक करोड़ रुपये का खर्चा आएगा और यह खर्च सरकार उठायेगी। हिंदी के संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनने के बाद आनेवाला खर्च उठाने की जिम्मेदारी संगठन की होगी। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को सातवीं आधिकारिक भाषा स्वीकृत होने में कोई अवरोध उत्पन्न न होगा।

संयुक्त राष्ट्र में भारत की अस्मिता की भाषा हिंदी को सातवीं भाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने के लिए आज विश्व में जैसा अनुकूल वातावरण निर्मित हुआ है, वह अप्रतिम है।

एक तो भारत में राजभाषा अधिनियम के तहत हिंदी को अंग्रेजी के स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिए शासन की ओर से जो प्रयास जारी हैं, उनके साथ जनता, बुद्धिजीवी तथा अन्य राज्यों के प्रशासन भी पूर्व की अपेक्षा हिंदी के कार्यान्वयन के लिए प्रतिबद्ध नजर आ रहे हैं। यह एक शुभ लक्षण ही माना जाएगा। जब तक देश के भीतर देशवासियों की मानसिकता में परिवर्तन नहीं होगा, तब तक हम वैश्विक स्तर पर हिंदी की व्याप्ति के लिए तन, मन व धन से प्रयास नहीं कर पायेंगे।

२००१ की जनगणना के अनुसार भारत की आबादी १०२ करोड़ है। आज जिसमें ७२ करोड़ लोग या तो हिंदी भाषी हैं अथवा हिंदी जाननेवाले हैं। इस समय चीन के बाद हिंदी भाषियों की संख्या द्वितीय स्थान पर है; अंग्रेजी और स्पानिश भाषाएं तृतीय और चौथे स्थान पर थीं।

वैसे विश्व के अनेक राष्ट्रों के विश्वविद्यालयों में हिंदी पठन-पाठन की व्यवस्था है। रूस, अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड बुल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, रोमानिया इत्यादि देशों में हिंदी में शोध कार्य के साथ अनुवाद कार्य भी तेजी से बढ़ता जा रहा है।

मॉरीशस, सूरीनाम, त्रिनिडाड, फिजी, दक्षिण अफ्रीका, मलेशिया, बर्मा, थाईलैंड, इंडोनेशिया, जमैका, नेपाल, श्रीलंका इत्यादि अनेक देशों में आज हिंदी प्रचलित है और अत्यंत आदर के साथ हिंदी को उन देशों में अपनाया जा रहा है। राजभाषा पुष्पमाला के जनवरी १९९४ के अंक में प्रकाशित सूचनाओं से विदित होता है कि विश्व के प्रायः अधिकांश प्रमुख राष्ट्रों में हिंदी के प्रचार-प्रसार के साथ शोध एवं अनुवाद के लिए हिंदी के अध्ययन केन्द्र स्थापित हैं और तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' के साथ प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि रचनाकारों की अधिकांश कृतियों का अंग्रेजी, जर्मनी, रूसी, बुल्गारियाई भाषाओं में विपुल मात्रा में न केवल अनुवाद हो रहा है; बल्कि तुलनात्मक अध्ययन भी प्रगति पर है। हिंदी के गीतों के साथ हिंदी फिल्में भी उन राष्ट्रों में जनप्रिय होती जा रही हैं। साथ ही व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्रों में ही नहीं, अपितु भारत के साथ भाषा एवं सांस्कृतिक संबंध भी दृढ़ से दृढ़तर बनाने की दिशा में विश्व के तमाम राष्ट्र आज कृत संकल्प हैं।

मुख्यतः सूचना-प्रौद्योगिकी, भूमण्डलीकरण और वैश्वीकरण के इस दौर में आज सब कोई विश्व के समस्त राष्ट्रों के बीच मैत्री संबंध स्थापित करने की आवश्यकता एवं अनिवार्यता का अनुभव कर रहे हैं। यह एक शुभ लक्षण माना जा सकता है।

हमारे राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने हिंदी दिवस १४ सितंबर २००६ को केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के पुरस्कार वितरण समारोह के संदर्भ में अपने अभिभाषण में ये विचार व्यक्त किये हैं कि हिंदी के प्रचार-प्रसार में तेजी लाई जानी चाहिए, साथ ही अन्य भाषाओं के साथ राष्ट्रभाषा का तालमेल भी बैठाना जरूरी

है और दूसरी भाषाओं के गंभीर साहित्य का अनुवाद हिंदी में होना चाहिए। उसी संदर्भ में राष्ट्रपति ने यह भी कहा था कि अपनी विदेशी यात्राओं के दौरान खास कर रूस, बुल्गारिया आदि देशों में उन्होंने वहाँ की जनता में हिंदी के प्रति अत्यंत उत्साह देखा है।

१४ जनवरी २००७ को भारत के हिंदी पत्रों में प्रकाशित सूचना के अनुसार वेस्ट लोफायट्टे इंडयाना, जो संयुक्त राज्य अमेरिका के बीचों-बीच है, वहाँ एक विश्वविख्यात पुरडू विश्वविद्यालय है जिसमें प्रत्येक पांच छात्रों में एक भारतीय है। यह संस्थान कृषि, इंजीनियरिंग और फार्मेसी के क्षेत्रों में विश्वस्तरीय शिक्षा के लिए पूरी दुनिया में चर्चित है। वर्तमान अकादमिक वर्ष के दौरान वहाँ के ४८३१ अंतर्राष्ट्रीय छात्रों में १०२१ छात्र भारत के हैं; और भारत के बाद ७८२ छात्रों के साथ चीन दूसरे स्थान पर और दक्षिण कोरिया तीसरे स्थान पर है। इस विश्वविद्यालय में भारतीय मूल के शिक्षकों की संख्या भी कम नहीं है। मुख्य प्रबंधन, इंजीनियरिंग तथा विज्ञान विषयों के अधिकांश शिक्षक भारतीय हैं जिनकी संख्या लगभग ५० है। पुरड के अध्यक्ष मार्टिन ने अपनी २००४ की भारत यात्रा के पश्चात् ये विचार व्यक्त किये कि एशिया में भारत और चीन को करीब लाने की आवश्यकता है।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि भारत आज विश्व में अपनी पूर्ण पहचान के साथ अपनी दक्षता भी प्रमाणित कर रहा है। इससे हमारी संस्कृति के साथ हमारी भाषाओं का भी उन राष्ट्रों में प्रतिष्ठापूर्वक स्थान प्राप्त होगा।

वैसे विश्व में भारतीय भाषाओं का महत्व पर्याप्त समय पूर्व ही स्वीकारा गया है। जर्मनी के विद्वान मैक्समूलर ने भारत आकर संस्कृत सीखी और वेदों का जर्मनी भाषा में अनुवाद किया, जिससे सारे विश्व में हमारे वाङ्मय की गुणवत्ता प्रमाणित हुई। चीन के यात्री तथा बौद्ध भिक्षुओं ने पाली भाषा में सभी त्रिपिटक एवं जातक कथाओं का अनुवाद चीनी भाषा में किया। संस्कृत में विचरित महाभारत, रामायण आदि महाकाव्यों के साथ 'पंचतंत्र', 'हितोपदेश' तथा कालिदास आदि महाकवियों की कृतियों के साथ हमारे ज्ञान-विज्ञान संबंधी अनेक ग्रंथ विश्व की प्रमुख भाषाओं में रूपांतरित हुए। उन देशों ने हमारे ज्ञान-विज्ञान का भरपूर लाभ उठाया।

आज विश्व के संपन्न देश भी हमारी राष्ट्रभाषा (राजभाषा) हिंदी के अध्ययन, अध्यापन की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। अमेरिका के प्रशासन ने भी इस बात को गंभीरता से लिया है। इसके पीछे एक प्रमुख कारण यह भी है- अमेरिका में आजीविका हेतु विश्व के तमाम देशवासी वहाँ पहुँच रहे हैं। उस राष्ट्र में कोई ऐसा आकर्षण है जो सब शिक्षित एवं मेधावियों को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। मुख्यत: वह एक कास्मोपोलिटन राष्ट्र है। जो भी उस देश में जाते हैं उन्हें वहाँ के उच्चारण को अपनाना और उपयोग में लाना अनिवार्य था। वहाँ पर विदेशी वैज्ञानिक, शिक्षक आदि संतोषजनक राशि वेतन के रूप में पाते हैं, पदों पर आसीन भी हैं; परंतु कोई भी विदेशी अमेरिका को अपना देश नहीं मानता, वहाँ की नागरिकता स्वीकार करने के बावजूद भी उस राष्ट्र को अपनी मातृभूमि के रूप में स्वीकारता नहीं।

इस बात को अमेरिकी प्रशासन ने गहराई से अनुभव किया। अनेक भाषा-भाषी अपनी आवश्यकताओं के लिए अमेरिका में निवास करते हैं लेकिन उनके हृदयों में परस्पर विश्वास व अपनापन का भाव नहीं है। उनके अंतरों में द्वेष और अविश्वास के भाव बरकरार हैं। अत: उनके साथ आत्मीयता पूर्ण मैत्री संबंध एवं सौहार्द्र स्थापित करना है तो अमेरिका की सुरक्षा की दृष्टि से भी उनके मन में यह सौजन्य भाव पैदा करना होगा कि अमेरिकावासी भी हृदयपूर्वक उनका आदर-सम्मान करते हैं। इसके लिए एकमात्र उपाय एवं निकटतम मार्ग उनकी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना ही है। इससे उनके हृदयों में यह भाव पैदा होगा कि हम उनका आदर करने के साथ हृदयपूर्वक उनके साथ मैत्री संबंध स्थापित करना चाहते

हैं- ये अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश के उद्‌गार हैं।

इस विचार को कार्यान्वित करने हेतु जॉर्ज बुश के हाथों से 'नेशनल सिक्यूरिटी लॉग्वेज इनिशियेटिव' (एन.एस.एल.आई.) नाम से यह संस्थान स्थापित की गई है। वैसे अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं परंतु सामान्यत: वहाँ के विद्यार्थी यूरोपियन एवं लैटिन अमेरिका की भाषाएँ सीखना ज्यादा पसंद करते हैं। मुख्यत: वे स्पेनिश, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं को प्राथमिकता देते हैं; परंतु वहाँ का प्रशासन चाहता है कि अमेरिका के विद्यार्थी अरबी, चीनी और रूसी भाषाओं के साथ भारतीय भाषाओं का भी अध्ययन करें। उस पर भी अमेरिका में रहकर इन भाषाओं का अध्ययन करने की अपेक्षा उन-उन देशों में जाकर वहाँ की भाषाओं का गहन अध्ययन करें। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिए अमेरिका अधिक राशि की छात्रवृत्तियों को देकर विद्यार्थियों में इन भाषाओं के प्रति आकर्षण पैदा करने में प्रयत्नशील है।

भारत में इसका श्रीगणेश गुड़गाँव में 'अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ इंडियन स्टडीज' नाम से एक संस्थान स्थापित करने के द्वारा हुआ। यहाँ पर अमेरिका से आनेवाले विद्यार्थियों को भारतीय भाषाएँ सिखायी जाती हैं। प्रथम सत्र में ९० विद्यार्थियों ने प्रवेश लिया। इस संस्थान में भाषा शिक्षण के साथ उस भाषा में निर्मित फिल्में, डोक्यूमेंट्री तथा नाटक आदि भी दिखाये जाते हैं।

यदि किसी भाषा को सही रूप में सीखना या अभ्यास करना है तो उन-उन प्रदेशों में जाकर निवास करते हुए सीखना आवश्यक है। अत: अमेरिका का प्रशासन हिंदी सीखने के लिए जयपुर, बंगला सीखने के लिए कोलकाता, उर्दू सीखने के लिए लखनऊ तथा पंजाबी सीखने के लिए पटियाला में जाकर वहाँ के परिवारों में पेइंग गेस्ट के रूप में रहकर भाषाएँ सीखने के लिए प्रोत्साहित कर रहा है।

भारत में अमेरिकी दूतावास में सहायक सूचनाधिकारी के पद पर कार्यरत श्रीमती करेन केशप का कथन है- ''भारत में स्थित अमेरिकी दूतावास के कार्यालय में नियुक्त होने के छ: माह पूर्व मैंने हिंदी सीखी थी। देवनागरी लिपि मुझे कुछ भिन्न प्रतीत हुई। प्रथम दिन मैंने केवल चार अक्षर मात्र सीखे। तीन हफ्तों में वर्णमाला भी सीखी। सबसे पहले मैंने माताजी, पिताजी, दादाजी जैसे शब्द सीखे। फिर दुकानों, होटलों, मस्जिद में मुझे मेरे शिक्षक ले जाते रहे। जब-तब सिनेमा घरों में ले जाते। फिर रामायण, कृषि, आबो-हवा, अपराध, लैंगिक असमानताएँ, एड्स जैसे अनेक अंशों पर चर्चा चलने लगी। अब मैं पूर्ण रूप से हिंदी सीख गयी।'' अमेरिका की कोल एच. टेलर नामक एक आंथ्रोपोलॉजी की विद्यार्थी का मानना है- ''मैं मानवाधिकार कार्यकर्ता के रूप में कार्यरत हूँ। गाँवों में कोई अंग्रेजी नहीं जानता। यदि मैं हिंदी जानती तो वहाँ की जनता के साथ हिंदी में विभिन्न समस्याओं पर चर्चा कर सकती हूँ। उनके विचारों से अवगत हो सकती हूँ।''

कोनील यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी का कथन है - ''मैं आरम्भ से ही उर्दू को ज्यादा पसंद करता रहा हूँ। मैं उर्दूभाषी परिवारों पर शोध कार्य करना चाहता हूँ।''

इन उदाहरणों से स्पष्ट विदित है कि समाज, देश व अंतरराष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रों के बीच सौहार्द्र स्थापित करने में भाषा की भूमिका अहं होती है। आज हिंदी ने अपने बल-बूते वैश्विक स्तर पर न केवल अपनी पहचान बनायी है, अपितु उसकी आवश्यकता भी दर्ज करायी है। इस परिप्रेक्ष्य में आठवाँ विश्व हिंदी सम्मेलन जो अमेरिका के विश्वविख्यात वाणिज्य केन्द्र न्यूयॉर्क, में जहाँ संयुक्त राष्ट्र का प्रधान कार्यालय अवस्थित है, हिंदी को विश्व मंच पर प्रतिष्ठा दिलाने में अनुकूल भूमिका तैयार कर रहा है। इस महासम्मेलन में हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की सातवीं भाषा के रूप में घोषित करवाना उसका प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए; यही नहीं, यह घोषित करवाकर हमें भारत लौटना है।

-साभार

महादेवी वर्मा

हमारा देश और राष्ट्रभाषा

हमारा हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ देश, आकाश और आत्मा : दोनों दृष्टियों से महान् और सुंदर है। उसका बाह्य सौंदर्य विविधता की सामंजस्यपूर्ण स्थिति है; और आत्मा का सौंदर्य विविधता में छिपी हुई एकता की अनुभूति है।

चाहे कभी न गलने वाला हिम का प्राचीर हो, चाहे कभी न जमने वाला अतल समुद्र हो, चाहे किरणों की रेखाओं से खचित हरीतिमा हो, चाहे एकरस शून्यता ओढ़े हुए मरु हो, चाहे साँवले भरे मेघ हो, चाहे लपटों में साँस लेता हुआ बवंडर हो- सब अपनी भिन्नता से भी एक ही देवता के विग्रह को पूर्णता देते हैं। जैसे मूर्ति के एक अंग का टूट जाना संपूर्ण देव-विग्रह को खंडित कर देता है, वैसे ही हमारे देश की अखंडता के लिए विविधता की स्थित है।

यदि इस भौगोलिक विविधता में व्याप्त सांस्कृतिक एकता न होती, तो यह विभिन्न नदी, पर्वत, वनों का संग्रह-मात्र रह जाता। परंतु इस महादेश की प्रतिभा ने इसकी अंतरात्मा को एक रसमयता में प्लावित करके इसे विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है, जिससे यह आसमुद्र एक नाम की परिधि में बँध जाता है।

हर देश अपनी सीमा में विकास पाने वाले जीवन के साथ एक भौतिक इकाई है, जिससे वह समस्त विश्व की भौतिक और भौगोलिक इकाई से जुड़ा हुआ है। विकास की दृष्टि से उसकी दूसरी स्थिति आत्म-रक्षात्मक तथा व्यवस्थापरक राजनीतिक सत्ता में है। तीसरी सबसे गहरी तथा व्यापक स्थिति उसकी सांस्कृतिक गतिशीलता में है, जिससे वह अपने विशेष व्यक्तित्व की रक्षा और विकास करता हुआ विश्व-जीवन के विकास में योग देता है। यह सभी बाह्य और स्थूल तथा आंतरिक और सूक्ष्म स्थितियाँ एक दूसरी पर प्रभाव डालती और एक दूसरी से संयमित होती चलती हैं।

एक विशेष भू-खंड में रहने वाले मानव का प्रथम परिचय, संपर्क और संघर्ष अपने वातावरण से ही होता है और उससे प्राप्त जय, पराजय, समन्वय आदि से उसका कर्म-जगत् ही संचालित नहीं होता, प्रत्युत् अंतर्जगत् और मानसिक संस्कार भी प्रभावित होते हैं।

व्यवस्थापरक शासन, विधिनिषेधमयी आचार-नीति, दर्शन, साहित्य आदि एक अनंत विकास-क्रम में बँधकर ही एक विशेष भूमंडल में स्पंदित जीवन को विशेष व्यक्तित्व देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र न तो केवल नदी, पर्वत, वन का समूह है न शून्य में स्थिति रखनेवाले मानवों की भीड़ मात्र।

एक स्वस्थ मानव जैसे पार्थिव शरीर से सूक्ष्म चेतना तक और प्रत्यक्ष कर्म से अदृष्ट संकल्प-स्वप्न तक एक ही इकाई है, वैसे ही राष्ट्र भी विभिन्न स्थूल और सूक्ष्म रूपों और प्रत्यक्ष-

अप्रत्यक्ष शक्तियों का एक जीवित गतिशील विग्रह है।

परिस्थितियाँ क्षणजीवी होती हैं, परंतु उनके संस्कारों का जीवन अक्षय ही रहता है। किसी जाति या देश की राजनीतिक पराजय आकस्मिक हो सकती है; परंतु उसका सांस्कृतिक अवरोध उसकी जीवन शक्ति के अवरुद्ध होने पर ही संभव है।

वैसे व्यापक अर्थ में मानव-संस्कृति एक ही है, क्योंकि मनुष्य के बुद्धि और हृदय का संस्कार-क्रम उसके जीवन के समान ही व्यापक और निश्चित है परंतु जैसे विकास की दृष्टि से वृक्ष एक होने पर भी उसकी आँधियों से लोहा लेने वाला तना, मंद वायु के सामने झुकने वाली शाखाएँ, चिर चंचल पल्लव और झरझर बरसने वाले फूल, सबका अपना-अपना विकास है, जैसे शरीर एक होने पर भी अंगों का गठन और विकास एक रूप नहीं होता, वैसे ही मानव-संस्कृति एक होकर भी अनेक रूपात्मक ही रहेगी। उसकी विविधता का नष्ट होना उसके व्यक्तित्व का पाषाणीकरण है।

हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव में जितना समृद्ध है, अपनी आंतरिक विभूतियों में उससे कम गुरु नहीं। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनों को जोड़ने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकल कर एक समुद्र में मिलने के पहले अनेक धाराओं में बिखर बँट कर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर पास के अंगों से रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुन: अनेक में लौट जाना ही शरीर की संचालक शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केंद्र बिंदु को छूकर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है। रूपात्मक प्रकृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएँ तत्त्वत: एक रही हैं। इसी से हमारे साहित्य, कला, दर्शन आदि अपनी विविधता में भी एक ही हैं।

जहाँ तक भाषा का संबंध है, प्रत्येक विद्वान् जानता है कि ध्वनि पर कंठ और कंठ पर वातावरण का अनिवार्य प्रभाव एक भाषा में भी एकरूपता नहीं रहने देता। हमारे विशाल राष्ट्र में विविध भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है; परंतु किसी भी जीवित जाग्रत देश की भाषा की तुलना उन सिक्कों से नहीं की जा सकती जो बाजार में क्रय-विक्रय के जड़ माध्यम मात्र हैं। वस्तुत: भाषा जीवन की अभिव्यक्ति भी है। सौरभ फूल का नाम और परिचय देता है; पर वह उसके विकास का व्यक्त रूप भी है, जो मिट्टी, धूप, पानी आदि के संयोग से प्राप्त होता है। विशेष भूभाग में रहने वाले मानव-समूह की भाषा उसके परस्पर व्यवहार का माध्यम होने के साथ-साथ इस समूह के जीवन, सुख-दुख, आकर्षण-विकर्षण, स्वप्न-आकांक्षा, यथार्थ-आदर्श, जय-पराजय आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी है। अत: भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध में बँधी रहती है; क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं रहती। यदि हमारी थोड़ी-सी स्थूल आवश्यकताएँ हैं, तो उन्हें व्यक्त करने के लिए इने-गिने शब्द-संकेत ही पर्याप्त होंगे।

किसी हाट में क्रय-विक्रय के कार्य के लिए आवश्यक शब्दों की संख्या अधिक नहीं होती परंतु जब हम अपने भाव-जगत् विचार-मंथन, सौंदर्यबोध आदि को आकार देने बैठते हैं, तब हमें ऐसी शब्दावली की आवश्यकता पड़ती है, जो भाव के हर हल्के गहरे रंग को व्यक्त कर सके; बुद्धि की हर क्षणिक और स्थायी प्रक्रिया को नाम दे सके; सौंदर्य की हर सूक्ष्म-स्थूल रेखा को आँक सके। हम भाषा के अध्ययन से यह निर्णय कर सकते हैं कि उसे बोलनेवाली जाति सांस्कृतिक दृष्टि से विकास का कौन-सा प्रहर पार कर रही है। संस्कृति या समकृति कोई निर्मित वस्तु न होकर विकास का अनवरत क्रम है। मनुष्य का प्रत्येक कर्म अपने पीछे विचार, चिंतन, संकल्प, भाव तथा अनुभूति की दीर्घ और अटूट परंपरा छिपाए रहता है। इसी से संस्कार-क्रम भी अव्यक्त और व्यक्त : दोनों सीमाएँ छूता हुआ चलता है। भाषा संस्कृति का लेखा-जोखा रखती है। अत: वह भी अनेक संकेतों और व्यंजनाओं में ऐश्वर्यवती है।

हमारे देश ने आलोक और अंधकार के अनेक युग पार किए हैं। परंतु अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रति वह एकांत सावधान रहा है। उसमें अनेक विचारधाराएँ समाहित हो गईं, अनेक मान्यताओं ने स्थान पाया; पर उसका व्यक्तित्व सार्वभौम होकर भी उसी का रहा।

उसके अंतर्गत आलोक ने उसकी वाणी के हर स्वर को उसी प्रकार उद्भासित कर दिया, जैसे आलोक हर तरंग पर प्रतिबिंबित होकर उसे आलोक की रेखा बना देता है। एक ही उत्स से जल पाने वाली नदियों के समान भारतीय भाषाओं के बाह्य और आंतरिक रूपों में उत्सगत विशेषताओं का सीमित हो जाना ही स्वाभाविक था। कूप अपने अस्तित्व में भिन्न हो सकते हैं, परंतु धरती के तल का जल तो एक ही रहेगा। इसी से हमारे चिंतन और भावजगत् में ऐसा कुछ नहीं है, जिसमें सब प्रदेशों के हृदय और बुद्धि का योगदान और समान अधिकार नहीं है।

आज हम एक स्वतंत्र राष्ट्र की स्थिति पा चुके हैं। राष्ट्र की अनिवार्य विशेषताओं में दो हमारे पास हैं- भौगोलिक अखंडता और सांस्कृतिक एकता। परंतु अब तक हम उस वाणी को प्राप्त नहीं कर सके हैं, जिसमें एक स्वतंत्र राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के निकट अपना परिचय देता है। जहाँ तब बहु भाषा-भाषी होने का प्रश्न है, ऐसे देशों की संख्या कम नहीं है जिनके भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न भाषाओं की स्थिति है। पर उनकी अविच्छिन्न स्वतंत्रता की परंपरा ने उन्हें सम-विषय स्वरों से एक राग रच लेने की क्षमता दे दी है।

हमारे देश की कथा कुछ दूसरी है। हमारी परतंत्रता आँधी तूफान के समान नहीं आई, जिसका आकस्मिक संपर्क तीव्र अनुभूति से अस्तित्व को कंपित कर देता है। वह तो रोग के कीटाणु लाने वाले मंद समीर के समान साँस में समाकर शरीर में व्याप्त हो गई है। हमने अपने संपूर्ण अस्तित्व से उसके भार को दुर्वह नहीं अनुभव किया और हमें यह ऐतिहासिक सत्य भी विस्मृत हो गया कि कोई भी विजेता विजित देश पर राजनीतिक प्रभुत्व पाकर ही संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि सांस्कृतिक प्रभुत्व के बिना राजनीतिक विजय न पूर्ण है; न स्थायी। घटनाएँ संस्कारों में चिर जीवन पाती हैं और संस्कार के अक्षय वाहक, शिक्षा, साहित्य, कला आदि हैं।

दीर्घकाल से विदेशी भाषा हमारे विचार-विनिमय और शिक्षा का माध्यम ही नहीं रही, वह हमारे विद्वान् और संस्कृत होने का प्रमाण भी मानी जाती रही है। ऐसी स्थिति में यदि हममें से अनेक उसके अभाव में जीवित रहने की कल्पना से सिहर उठते हैं, तो आश्चर्य की बात नहीं। पर रोग की स्थिति को स्थायी मान कर तो चिकित्सा संभव नहीं होती। राष्ट्र-जीवन की पूर्णता के लिए उसके मनोजगत् को मुक्त करना होगा और यह कार्य विशेष प्रयत्न साध्य है, क्योंकि शरीर को बाँधनेवाली शृंखला से आत्मा को जकड़नेवाली शृंखला अधिक दृढ़ होती है।

आज राष्ट्रभाषा की स्थिति के संबंध में विवाद नहीं है, पर उसे प्रतिष्ठित करने के साधनों को लेकर ऐसी विवादैषणा जागी है कि साध्य ही दूर से दूर तक होता जा रहा है। विवाद जब तक की सीधी रेखा पर चलता है, तब लक्ष्य निकट आ जाता है; पर जब उसके मूल में आशंका, अविश्वास और अनिच्छा रहती है, तब कहीं न पहुँचना ही उसका लक्ष्य बन जाता है।

आधुनिक युग में जब विज्ञान ने समुद्रों और पर्वतों का अंतर दूरकर एक देश को दूसरे के पास पहुँचा दिया है; जब अणुबम की अंतक छाया में भी अमर मानवता जाग उठी है; और जब ध्वंस की लपटों के नीचे भी निर्माण के अंकुर सिर उठा रहे हैं; तब हम अपने मनों की दूरी बढ़ाकर, संदेह के प्राचीर खड़े कर और विरोध के स्वरों में बोलकर अपनी महान परंपराओं की अवज्ञा ही करेंगे।

एक सुंदर स्वप्न अनेक सुंदर स्वप्नों में समाकर जीवन को विराट् सौंदर्य देता है; एक शिव संकल्प अनेक शिव संकल्पों में लीन होकर मनुष्य को विशाल शिवता देता है; एक निष्ठामय कर्म अनेक निष्ठामय कर्मों से मिलकर विश्व को अक्षय गति देता है। इसके विपरीत एक दुर्भाव अनेक दुर्भावनाओं में मिलकर जीवन को विरूप कर देता है; एक अविश्वास अनेक अविश्वासों के साथ मनुष्य

को असत्य कर देता है; और एक आघात अनेक आघातों को पंक्तिबद्ध कर मनुष्यता को क्षत-विक्षत कर देता है।

हम जीवन को सौंदर्य और गति देने वाली प्रवृत्तियों के साथ रहकर जिन प्रश्नों का समाधान करना चाहेंगे, वे स्वयं उत्तर बन जाएँगे।

जहाँ तक हिंदी का प्रश्न है, वह अनेक प्रादेशिक भाषाओं की सहोदरा और एक विस्तृत विविधता भरे प्रदेश में अनेक देशज बोलियों के साथ पलकर बड़ी हुई है। अवधी, बृज, भोजपुरी, मगही, बुंदेली, बघेलखंडी आदि उसकी धूल में खेलनेवाली चिर सहचरियाँ हैं। इसके साथ कछार और खेतों, मचान और झोपड़ियों, निर्जन और जनपदों में घूमघूम कर उसने उजले आँसू और रंगीन हँसी का संबल पाया है।

साधकों ने अपने कमंडल के पूत जल से इसे पवित्र बनाया है। साम्राज्यवाद का स्वर्ण मुकुट न इसकी धूल-धूसरित उन्मुक्त अलकों को बाँध सका है, न बाँध सकेगा। दीपक की लौ पर सोने का खोल क्या उसे बुझा नहीं देगा!

जब राजतंत्र के युग में भी वह द्वार-द्वार पर समानता का अलख जगाती रही, तब आज जनतंत्र के युग में उसके लिए प्रसाद की कल्पना उसकी मुक्त आत्मा के लिए कारागार की रचना ही कही जाएगी।

हिंदी के प्रादेशिक और भारतीय रूप भी चर्चा के विषय बन रहे हैं। यह प्रश्न बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसे एक हृदय के साथ दो शरीरों की परिकल्पना।

हिंदी की विशेषता उसकी मुक्ति में रही है। इसका प्रमाण उसके शब्दकोष में मिल सकेगा। उसने देशज बोलियों तथा देशी-विदेशी भाषाओं से शब्द ग्रहण करने में न कभी संकीर्णता दिखाई; और न उन्हें अपना बनाने में दुविधा का अनुभव किया; परंतु विकसित परिमार्जित और साहित्यवती भाषा का कोई सर्वमान्य रूप या मानदंड न हो, ऐसा संभव नहीं होता।

आज हिंदी में साहित्य सृजन करने वालों में कोई बिहार का मगहीभाषी है, कोई मथुरा का ब्रजभाषी। परंतु बुंदेलखंडी बोलनेवाले राष्ट्रकवि मैथिलीशरण, वैसवाड़ी बोलनेवाले कविवर निराला और कुमाऊँनी बोलनेवाले श्री सुमित्रानंदन जी क्या समान रूप से हिंदी के वरद पुत्र नहीं कहे जाते! यदि हिंदी को बिहारी हिंदी, अवधी हिंदी, बुंदेली हिंदी नहीं बनाया जा सकता है, तो इसका कारण हिंदी का वह संश्लिष्ट रूप और मूलगत गठन है, जिसके बिना कोई भाषा महत्त्व नहीं पाती।

अँग्रेजी भाषा-भाषी विश्व भर में फैले हैं, उनमें देशज संस्कार भी हैं, परंतु इससे अंग्रेजी का न सर्वमान्य गठन खंडित होता है; और न उसे नए नामकरणों की आवश्यकता होती है। विश्व की सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं के संबंध में यह सत्य है। परिवर्तन भाषा के विकास का परिचय है; और परिवर्तन में अंतर्निहित एक तारतम्यता उसके जीवन का प्रमाण है। शिशु से वृद्ध होने तक शरीर न जाने कितने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष परिवर्तनों का क्रम पार करता है; परंतु उसकी मूलगत एकता अक्षुण्ण रहकर उसे एक संज्ञा से घेरे रहती है। भाषा केवल संकेत-लिपि नहीं है, प्रत्युत् उसके हर शब्द के पीछे संकेतिक वस्तु स्पंदित रहती है; और प्रत्येक शब्द का एक सजीव इतिहास होता है। अत: एक जीवित भाषा का जीवन के साथ ही विकसित और परिमार्जित होते चलना स्वाभाविक है।

भाषा भी गढ़ी जाती है, परंतु वह कुंभकार का घट निर्माण नहीं, मिट्टी का अंकुर-निर्माण है। जिस प्रकार मनुष्य की मूलगत प्रवृत्तियों को नए लक्ष्य से जोड़कर हम उसे अप्रत्यक्ष, आदर्श और प्रत्यक्ष कर्म का निर्माण कर सकते हैं, उसी प्रकार भाषा की नैसर्गिक वृत्तियों से नए भाव, नई वस्तु, नए विचार जोड़कर हम उसे नए रूपों से समृद्ध करते रहते हैं। हिंदी का प्राकृत से ब्रज-अवधी तथा उनसे खड़ी बोली तक आने का क्रम जितना आश्चर्यजनक है, उतना ही अनायास; क्योंकि जिस लोकहृदय के साथ यह विकसित हुई, उससे इसका धरती और बीज का सा संबंध था, जिससे एक देकर पाता है और दूसरा पाकर देता है।

हिंदी अपना भविष्य किसी से दान में नहीं चाहती वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए

जिस नियम से नदी नदी की गति रोकने के लिए शिला नहीं बन सकती, उसी नियम से हिंदी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरुद्ध नहीं कर सकती।

यह आकस्मिक संयोग न होकर भारतीय आत्मा की सहज चेतना ही है, जिसके कारण हिंदी के भावी कर्त्तव्य को जिन्होंने पहले पहचाना वे हिंदी भाषा-भाषी नहीं थे। राजा राममोहन राय से महात्मा गांधी तक प्रत्येक सुधारक, साहित्यकार, धर्म-संस्थापक, साधक और चिंतक हिंदी के जिस उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता आ रहा है, उसे नतशिर स्वीकार कर लेने पर ही हिंदी लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाएगी; क्योंकि स्वीकृति मात्र न गति है, न गंतव्य। वस्तुत: संपूर्ण भारत संघ को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए उसे दोहरे संबल की आवश्यकता है- एक तो आंतरिक जो मन के द्वारों को उन्मुक्त कर सके; और दूसरा बाह्य जो आकार को सबल और परिचित बना सके। अन्य प्रदेशों के लोकहृदय के लिए तो वह अपरिचित नहीं है; क्योंकि दीर्घकाल से वह संत-साधकों की मर्मबानी बनकर ही नहीं, हाट बाजार की व्यवहार बोली के रूप में भी देश का कोना-कोना घूम चुकी है।

यदि आज उसे अन्य प्रदेशों से अविश्वास मिले, तो उसका वर्तमान खंडित और अतीत मिथ्या हो जाएगा।

उसकी लिपि का स्वरूप भी मतभेदों का केंद्र बना हुआ है। सुदूर अतीत की ब्राह्मी से नागरी लिपि तक आते-आते उसके बाह्य रूप को समय के प्रवाह ने इतना माँजा और खरादा है कि उसे किसी बड़ी शल्य चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। नाम मात्र के परिवर्तन से ही वह आधुनिक युग के मुद्रण-लेखन यंत्रों के साथ अपनी संगति बैठा लेगी। परंतु तत्संबंधी विवादों ने उसका पथ प्रशस्त न करके उसके नैसर्गिक सौष्ठव को भी कुंठित कर दिया है। यदि चीनी जैसी चित्रमयी दुरूह लिपि अपने राष्ट्र-जीवन का संदेश वहन करने में समर्थ है, तो हमारी लिपि के मार्ग की बाधाएँ दुर्लंघ्य कैसे मानी जा सकती हैं!

स्वतंत्रता ने हमें राजनीतिक मुक्ति देकर भी न मानसिक मुक्ति दी है, और न हमारी दृष्टि को नया क्षितिज। हमारा शासन-तंत्र और उसके संचालक भी उसके अपवाद नहीं हो सकते। परंतु हमारे पथ की सबसे बड़ी बाधा यह है कि हमारी स्वतंत्र कार्य-क्षमता राज्यमुखापेक्षी होती जा रही है। पर अंधकार आलोक का त्योहार भी तो होता है। दीपक की लौ के हृदय में पैठ सके ऐसा कोई बाण अँधेरे के तूणीर में नहीं होता। यदि हमारी आत्मा में विश्वास की निष्कंप लौ है, तो मार्ग उज्ज्वल रहेगा ही।

भाषा को सीखना उसके साहित्य को जानना है, और साहित्य को जानना मानव-एकता की स्वानुभूमि है। हम जब साहित्य के स्वर में बोलते हैं, तब वे स्वर दुस्तर, समुद्रों पर सेतु बाँधकर दुर्लंघ्य पर्वतों को राजपथ बनाकर मनुष्य की सुख-दु:ख कथा मनुष्य तक अनायास पहुँचा देते हैं। अस्त्रों की छाया में चलने वाले अभियान निष्फल हुए हैं, चक्रवर्तियों के राजनीतिक स्वप्न टूटे हैं, पर मानव-एकता के पथ पर पड़ा कोई चरण-चिह्न अब तक नहीं मिटा है; मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का कोई स्वप्न अब तक भंग नहीं हुआ है।

भारत के लोक-हृदय और चेतना ने अनंत युगों में जो मातृमूर्ति गढ़ी है, वह अथर्व के पृथ्वीसूक्त से वंदेमातरम् तक एक, अखंड और अक्षत रही है। उस कोई खरोंच, हमारे अपने अस्तित्व पर चोट है।

हिंदी केवल कंठ का व्यायाम न होकर हृदय की प्रेरणा बन सके, तभी उसका संदेश सार्थक हो सकेगा। हम माता से जो क्षीर पाते हैं, वह उसके पार्थिक शरीर का रसमात्र न होकर आत्मा का दान भी होता है। इसी से वह हमारे शरीर का रसमात्र बनकर नि:शेष नहीं हो जाता, वरन् आत्मा से मिलकर अनंत स्वप्न-संकल्पों में फूलता-फलता रहता है। हिंदी के धरातल पर संत रविदास और भक्त सूरदास पग मिलाकर चले हैं; और निर्गुणवादी कबीर और सगुणवादी तुलसी कंधा मिला कर खड़े हुए हैं।

जहाँ सम्प्रदायों की कठिन सीमाएँ भी तरल होकर गल गई, उसी भूमि पर भेद की कल्पित दीवारें कैसे ठहर सकेंगी।

साभार : महादेवी संचयिता

डॉ. नरेन्द्र मिश्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द : प्राचीनता के पोषक एवं नवीनता के उन्नायक

भारतेन्दु का व्यक्तित्व अपने युग का मूर्त रूप था। उन्होंने हिन्दी साहित्य को आधुनिकता की आत्मा से परिचित कराया, सामाजिक यथार्थ को निरूपित किया और नव जागरण के स्वर मुखरित किये। सन् १८५७ से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तक के समय को विद्वानों ने ''घोर निराशा और सुषुप्ति'' का युग कहा है, लेकिन इन २८ वर्षों की सुषुप्ति दशा में भी भारतीय समाज नैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से सर्वथा गतिहीन नहीं हुआ था। समाज को जागरण की दिशा में प्रेरित करने वाले दो व्यक्तित्व थे -एक स्वामी दयानंद सरस्वती और दूसरे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। दयानंद ने भारत की नैतिक धरोहर के प्रति समाज का ध्यान आकृष्ट किया और भारतेन्दु ने सांस्कृतिक तथा साहित्यिक गौरव की रक्षा की। सांस्कृतिक जागरण के क्षेत्र में जो कार्य स्वामी दयानंद सरस्वती ने किया, भाषा और साहित्य के क्षेत्र में वही कार्य चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में भारतेन्दु बाबू ने किया। साहित्य और सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण की नवचेतना के विकास के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन, तन-मन-धन सब कुछ लगा दिया था। युग और समाज के प्रति दायित्व को समझने वाला रचनाकार परंपरा की पहचान को आत्मसात् करता है, अपने युग की माँग को समझता है और तदनुरूप मार्ग निकालता है। भारतेन्दु ने तत्कालीन स्थितियों को भलीभांति हृदयंगम किया था। जिस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अवतार धारण किया वह हिन्दी भाषा साहित्य के लिए कितना प्रतिकूल था, इसका आभास अधोलिखित छन्द से मिलता है। काव्य, भाषा, देशी राजाओं के स्वार्थ आदि से सम्बद्ध उनका यह कथन इस धारणा का ज्वलंत उदाहरण है -

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोइ कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइये।
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्है दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अब यह ''ग्रीषम में प्यारे हिमन्त'' बनाइये।

(भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा खंड, पृ.८६६)

जहाँ तक व्यक्तित्व का सवाल है, भारतेन्दु में सारल्य, विनोद, स्वाभिमान एवं उदारता का अद्भुत संगम है। साहित्य के क्षेत्र में वे कवि, नाटककार, समालोचक और पत्रकार थे

और समाज के लिए जागरूक पथ-प्रदर्शक। जनता की भावनाओं को उन्होंने निर्भय अभिव्यक्ति दी। यही कारण था कि जब राजा शिवप्रसाद को उनकी चाटुकारिता के बदले सरकार ने 'सितारेहिन्द' की पदवी दी तो जनता ने अपने प्रिय साहित्यकार को 'भारतेन्दु' उपाधि से विभूषित किया। अत: भारतेन्दु के साहित्य के सांस्कृतिक और सामाजिक अवदान का मूल्यांकन महत्वपूर्ण दायित्व एवं सामयिक जरूरत का एक अभिन्न हिस्सा है।

उनके व्यक्तित्व के तीन विशेष गुण थे-सच्चाई, दानशीलता और बात के धनी होना। बुद्धि उनकी बड़ी प्रखर थी और स्वभाव दरबारी। वैभव उन्हें विशेष प्रिय था। साहित्य, राष्ट्र और समाज- ये उनके जीवन के तीन अंग थे। उनके साहित्य में समाज सुधार और राष्ट्रीयता की भावना उत्कट रूप में मिलती है। पाखंडों, अंध विश्वासों और समाज की गति को अवरुद्ध करने वाले तत्वों पर उन्होंने तीखे व्यंग्य और प्रहार किये हैं। उनकी इस बहुमुखी सेवा ने ही उन्हें अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया था। सन् १९८० में उन्हें जनता की पैरवी से 'भारतेन्दु' की पदवी से विभूषित किया गया। यह उनके सम्मान और लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है। भारतेन्दु का जीवन और व्यक्तित्व, उसकी करुणा और विनोद, उसका व्यंग्य और दयालुता, उसकी निर्भीकता और सत्यवादिता उनके साहित्य में अपने यथार्थ रूप में प्रतिफलित हुई हैं।

''भारतेन्दु पर जब विचार करते हैं और कभी-कभी सोचने के अवसर भी आये हैं, तो लगता है कि हिन्दी साहित्य का यदि कोई समुचित रूप हो सकता है और वह यदि किसी एक व्यक्ति में अक्षरश: विद्यमान है तो उसका नाम है भारतेन्दु। महाभारत के संबंध में हमारे यहाँ कहा गया है-''यत् इहास्तितदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'' महाभारत में जो है वही समस्त भारतवर्ष में है और जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं है। यह उक्ति भारतेन्दु पर पूर्णत: घटित होती है, जो भारतेन्दु में है वही समग्र हिन्दी साहित्य में है; और जो भारतेन्दु में नहीं है, वह कहीं नहीं है। कुछ तो बीज रूप में है, कुछ पुष्पित-पल्लवित रूप में।'' (आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा : क्रांतिदर्शी कवि भारतेन्दु, भारतेन्दु पुनर्मूल्यांकन के परिदृष्य, पृ. ०१) भारतेन्दु ने समाज और साहित्य दोनों के लिए बहुत कुछ किया। उन्होंने तीन पत्रिकाएँ निकालीं-सन् १८६८ में 'कवि वचन सुधा', सन् १८७३ में हरिश्चन्द्र मैगजीन जिसका नाम आगे चलक 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' हो गया और सन् १८७४ में 'बाला बोधिनी'। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने चारों ओर लेखकों का एक मण्डल तैयार कर लिया था जिसमें उस युग के प्रसिद्ध साहित्यकारों में हम बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं. प्रताप नारायण मिश्र, पं. बालकृष्ण भट्ट, पं. अंबिकादत्त व्यास, पं. राधाकृष्ण गोस्वामी, डॉ. जगमोहनसिंह और लाला श्रीनिवासदास के नाम प्रमुख हैं। इनमें से प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', बदरीनारायण चौधरी ने 'आनंद कादंबिनी' और बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' का स्वतंत्र रूप से संपादन किया।

भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक यदि सिंहावलोकन किया जाय तो ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है, हल्की से हल्की, जो भारतेन्दु में नहीं आयी है। आधुनिक काल के मार्गदर्शक के रूप में उनकी देन अलग है। भारतेन्दु ने जितनी चीजों को अपनी रचनाओं में समेटा, वैसा कोई दूसरा नहीं कर सका। आज हिन्दी साहित्य बहुत आगे बढ़ गया है लेकिन जिसने इन सारी चीजों का आरंभ किया, उसकी प्रतिभा की तो कोई सीमा ही नहीं है। भारतेन्दु, भारतेन्दु इसीलिए माने गये कि उन्होंने वह किया जो दूसरों ने नहीं किया। उनके युग में बहुत सारे लोग थे। उनके पहले भी बहुत सारे लोग थे। किसको यह बात सूझी कि हिन्दी को एक नई दिशा दी जा सकती है।

अब भारतेन्दु की आयु पर विचार कीजिए। ७ सितम्बर, १८५०को जन्म हुआ और ६ जनवरी, १९८५ को देहान्त हो गया ३४ वर्ष ३ महीने २७ दिन, सीधा-सादा हिसाब रखिए तो; ३४ वर्ष। ३४ वर्ष में इतना बड़ा आश्चर्य करने वाला व्यक्ति! एक दृष्टि यह भी होना चाहिए कि समय कितना मिला उस आदमी को। लेकिन कभी-

कभी लगता है महान होने के लिए उम्र कम होना भी जरूरी है। जो अधिक दिन जीते हैं, बहुत बड़ा काम नहीं कर सकते; और जो ज्यादा पढ़ते हैं। भारतेन्दु को देखने पर एक दूसरा पहलू भी सामने आता है, वह भी महान लेखक नहीं हो सकते। अंग्रेजी कवि कीट्स की उम्र २६ साल की थी, शैली की उम्र ३० साल की थी, भारतेन्दु की उम्र ३४ साल की थी। कुछ पहले जाएँ तो शंकराचार्य की उम्र ३२ साल की थी तो स्वामी विवेकानंद की आयु मात्र ३९ साल की रही। बहुत दिन जीकर भी बहुसंख्यक लोग ऐसा काम नहीं कर सके जो शंकराचार्य, स्वामी विवेकानंद और भारतेन्दु के काम के मुकाबले रखा जाए। ३४ साल की उम्र में भारतेन्दु का इतना बड़ा चमत्कार कर जाना अद्भुत बात है; इसको भी ध्यान में रखना होगा।

इस देश में बहुतों की भावनाएँ ऐसी हैं कि राष्ट्रीयता की भावना का विकास कांग्रेस के आविर्भाव के बाद हुआ। मैं इस कथन में संशोधन की अपेक्षा करता हूँ, यह कि कांग्रेस का जन्म भारतेन्दु जैसे लेखकों की लेखनी के परिणामस्वरूप हुआ। यह न मानना चाहिए कि कांग्रेस पैदा हुई और धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का हमारे भीतर संचार हुआ। भारतेन्दु की रचनाओं को देखें, भारतेन्दु के समसामयिक लेखकों की रचनाओं को देखें तो एकदम स्पष्ट हो जाता है कि जिसे राष्ट्रीयता कहते हैं, वह राष्ट्रीयता बड़े स्पष्ट रूप में वहाँ विद्यमान है। कांग्रेस तो बहुत दिनों तक एक कमरे की संस्था थी जहाँ कुछ लोग मिलकर के विचार-विमर्श करते थे। आंदोलन का रूप तो कांग्रेस का काफी बाद का है, २०वीं शताब्दी में जाने के बाद का। राष्ट्रीयता का स्वरूप कैसे जागृत होता ? इसके संस्थापक ही विदेशी थे। ऐसे में राष्ट्रीयता का अंकुर कैसे प्रस्फुटित होता? कमोवेश ९० के दशक के बाद से आज की भी स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं आया है। बहरहाल, भारतेन्दु की, और भारतेन्दु के बाद दूसरे रचनाकारों की रचनाओं को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीयता का कितना सुंदर स्पष्ट रूप वहाँ मौजूद है। इसलिए साहित्यकारों से राजनीति निर्देशित हुई, यह मानना बहुत सही है। यहाँ रामधारी सिंह दिनकर का हास्य व्यंग्य में ही कहा गया वाक़या बहुत सटीक लगता है कि ''राजनीति जब-जब लड़खड़ाती है तो साहित्य ही उसे सहारा देता है।'' (जवाहरलाल नेहरू के लड़खड़ाने पर रामधारी सिंह दिनकर ने उन्हें सीढ़ियों पर सहारा देते हुए उक्त कथन कहा था।)

विचारणीय बिन्दु यह भी है जिसका महत्व आज भी हम भली-भाँति नहीं समझ पाए हैं-आजादी के ३८ वर्षों के बाद, उस चीज को भारतेन्दु ने आज से १३० साल से भी अधिक पहले कहा था -''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल''-एक - एक शब्द पर ध्यान देना है, जैसे कोई मंत्र हो। मंत्र के संबंध में सामान्यतया कह सकते हैं- बहुत छोटा हो, मगर जिसमें शक्ति हो और भावार्थ अपने पूर्ण रूप में भरा हुआ हो। तो यह एक मंत्र है, केवल एक उक्ति नहीं है, सूक्ति भी नहीं। इस मंत्र का अर्थ आज भी, भारत समझ नहीं पाया है और जब तक भारत समझेगा नहीं, तब तक भारत स्वाधीन नहीं होगा। भारत अभी स्वाधीन नहीं हुआ है। मेरी इस बात पर बहुत से लोग सहमत नहीं होंगे, लेकिन यथार्थ यही है।

भारत अभी स्वाधीन नहीं हुआ है, स्वाधीनता के अनेक रूप होते हैं। भारत का झंडा अपना हो गया है, लेकिन झंडा अपना होना पूर्ण स्वाधीनता नहीं है। यह राजनीतिक स्वाधीनता कही जा सकती है। राजनीतिक स्वाधीनता बड़ी चीज नहीं होती है। राजनीतिक स्वाधीनता तो बहुत सारे देशों को आज मिल गयी है। वे कहाँ हैं? दुनिया के लेखे-जोखे में उनका कहीं अस्तित्व है? स्वाधीनता का अर्थ होता है सांस्कृतिक स्वाधीनता, वैचारिक स्वाधीनता, साहित्यिक स्वाधीनता। ये स्वाधीनताएँ तब तक नहीं आएँगी हमारे भीतर, जब तक हम अपनी भाषाओं का आश्रय नहीं लेते। हम प्रगति पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं। अंग्रेजी पाँव में बेड़ी बनकर के पड़ी हुई है; और इस देश के कथित प्रगतिशील तबके को बेड़ी में अलंकार का भ्रम हो गया है और निश्चित मानिए जब तक वह बेड़ी हटती नहीं है तब तक इस देश का वैचारिक रूप स्वतंत्र हो ही नहीं सकता। १२५ करोड़ आबादी का

यह देश है और यहाँ ०५ विद्वान भी ऐसे नहीं हो रहे हैं जिनको दुनिया के लोग उद्धृत करें। यही विडम्बना है। तभी तो 'भारत-भारतीकार' को कहना पड़ा कि ''हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी। आओ हम आज विचारें मिलकर, ये समस्याएँ सभी।।''

कहते हैं कि हम आजाद हो गए हैं लेकिन आजाद तो भारतेन्दु थे। अंग्रेजों के शासन में रह करके यह बात जो आदमी कह सकता था वह बात अंग्रेजों के शासन के समाप्त हो जाने के बाद भी भारत का निवासी नहीं कह पा रहा। अंग्रेजी के भक्त इस देश में कहते हैं कि अंग्रेजी इस देश से चली जाएगी तो इस देश का सर्वनाश हो जाएगा। अंग्रेजों के जाने के पहले भी इस देश में बहुत बड़ा वर्ग था जो लोगों को कहता था कि अंग्रेज जाएँगे तो इस देश का सर्वनाश हो जाएगा। जिनकी नस-नस गुलामी में डूब चुकी रहती है वे इसी तरह की बातें करते हैं; जिनका रोम-रोम गुलामी में डूबा हुआ है वे इसके अतिरिक्त और कोई बात कह ही नहीं सकते। 'बादशाह-दर्पण' (पृ. ३१६) की भूमिका में भारतेन्दु लिखते हैं-'विशेषकर अंग्रेजों से हम लोगों को जैसी शुभ शिक्षा मिली है उसके लिए हम उनके ऋणी हैं। भारत कृतघ्न नहीं है। यद्यपि वे अनेक प्रकार से हमारा धन ले गये, किन्तु पेट भरने को भीख माँगने की विद्या भी सिखा गये।'' भारत की उस समय की शिक्षा-पद्धति पर भारतेन्दु ने यह गंभीर व्यंग्य किया था। दु:ख की बात है कि एक सौ तीस वर्षों बाद आज भी हमारी शिक्षा व्यवस्था में इस दोष का निराकरण नहीं हो सका है।

भारतेन्दु का विचार था कि यदि शिक्षा का लक्ष्य केवल सरकारी नौकरी पाना ही रहता है तो यह घोर अनर्थ की बात है। इसे वे भीख माँगने की विद्या कहते थे। शिक्षा से स्वावलंबन की प्राप्ति होना चाहिए। एक पुराना श्लोक कहता है कि विद्या से विनय, विनय से पात्रता और पात्रता से धन की प्राप्ति होती है-

''विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनाद् धर्मः ततः सुखम्।।''

एक प्रसंग में भारतेन्दु ने लिखा है-

''अब हिन्दुस्तान में तीन बातों का बड़ा घाटा है- वह यह है कि लोग विद्या, स्त्री (और) राजा का तादृश स्वरूप ज्ञानपूर्वक आदर नहीं करते। विद्या को केवल एक जीविका की वस्तु समझते हैं। (भारतेन्दु ग्रंथावली- तीसरा खण्ड, पृ. १००)

महाकवि कालिदास ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया था-

''यस्यागमः केवल जीविकायै।
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।'' वेद का तो विधान था कि कर्त्तव्य की भावना से ही-किसी आर्थिक लाभ की प्रत्याशा से नहीं-विद्या का अध्ययन करना चाहिए। पतंजलि ने ऐसा उद्धरण प्रस्तुत किया है-''ब्राह्मणेन निष्का-धर्मःषड़ंगो वेदः अध्येतव्यो ज्ञेयः च।'' (भारतेन्दु पुनर्मूल्यांकन के परिदृष्यः केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा पृ. २८३-२८४) भारतेन्दु भी शिक्षा की इस गरिमा को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे। भारतेन्दु की भाषा-नीति उनकी शिक्षा नीति का ही एक प्रमुख अंग है। हम नि:संकोच भाव से कह सकते हैं कि उनकी शिक्षानीति भी व्यापक राष्ट्रीयता का ही एक अंग है। उनकी उज्ज्वल राष्ट्रीयता की भावना उनके प्रत्येक लेख में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। भारत विदेशी शासन का शिकार हो गया था; भारत के निवासी नवीन विद्या से अनभिज्ञ थे; वे आपसी कलहों में अपनी शक्ति का अपव्यय कर रहे थे; धर्म और संप्रदाय के नाम पर वादविवाद करते थे और एकता के मार्ग में बाधाएँ स्वयं खड़ी कर लेते थे। अंग्रेज हमारी संपत्ति लूटकर ले जा हे थे। भारतीय जनता घोर दरिद्रता के पंक में डूबकर अत्यन्त विपन्न अवस्था में थी। ऐसी परिस्थिति में भारतेन्दु ने इस राष्ट्र के पुनर्जागरण और नवीकरण के लिए सही ढंग की शिक्षा व्यवस्था का निर्माण करना चाहा। रूढ़िवाद से मुक्त होकर वे नवीन विचारों का स्वागत करने के लिए तैयार थे, किन्तु नवीनता के मोह में अपनी समृद्ध और गरिमामयी परंपरा से विच्छिन्न होना उन्हें अभीष्ट नहीं था।

यूरोप में अंधकार युग आया। भारत में कभी अंधकार युग नहीं आया। भारत की साहित्यिक सरिता

कभी सूखी नहीं है, कहीं कृष भी नहीं हुई। उस देश का रहने वाला कहता है कि हम एक विदेशी भाषा के न रहने पर पंगु हो जाएँगे। यह डेढ़ सौ-दो सौ वर्षों की गुलामी का ऐसा रूप है जिसको देखकर आश्चर्य होता है। अज्ञेय जी ने उचित ही कहा है कि हम नकल के आदी हो गए हैं इसलिए मौलिक चिंतन नहीं कर पाते। दरअसल हम दूसरों की बातें कहते हैं। कविता, कहानी और उपन्यास में दूसरों के आदर्श, प्रतिमान और रचना का विधान लेते हैं। ये सारी की सारी चीजें तब तक चलती रहेंगी जब तक अपनी भाषा के महत्व को हम स्वीकार नहीं करेंगे। यहाँ हमें गणेशशंकर विद्यार्थी का यह कथन अत्यन्त सटीक लगता है- ''हमें देश की आजादी और भाषा की आजादी में चुनने का अवसर दिया जाए तो हम भाषा की आजादी को चुनना पसंद करेंगे। देश की आजादी के पश्चात् भी हम मानसिक गुलाम बने रह सकते हैं, लेकिन भाषाई आजादी प्राप्त करने के बाद हम वैचारिक और मानसिक रूप से पूर्णत: स्वाधीन हो जाएँगे।'' भारतेन्दु का दृढ़ मत था कि हिन्दी को सर्वांग समृद्ध बनाना हमारा कर्त्तव्य है। संसार का समस्त ज्ञान हिन्दी में उपलब्ध होना चाहिए। हिन्दी साहित्य को एक विशाल ज्ञान-सागर का रूप देना चाहिए। हर विषय में हिन्दी में प्रामाणिक ग्रंथों का ऐसी बड़ी संख्या में निर्माण होना चाहिए कि हमारी हर तरह की आवश्यकता की पूर्ति हो सके। उनकी यही कामना थी कि बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सब विद्वान हों। भारत का कोई व्यक्ति अशिक्षित न रहे। सब माता सरस्वती के कृपापात्र हों -''मेटहु तम अज्ञान को/सुखी होहु सब कोय।। बाल-वृद्ध-नर नारि सब/विद्या संजुत होय।।'' (हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, दोहा-८०)

भारतेन्दु भक्त थे, शृंगारी थे, प्रेमी थे, राजभक्त भी; परन्तु उनमें एक प्रवृत्ति और भी प्रमुख रूप से पायी जाती है; और वह है- देश-भक्ति की। अंग्रेजी शासन का स्वागत उन्होंने इसलिए किया कि वे समझते थे कि मुसलमानी-शासन में हिन्दुओं पर जो अत्याचार हुए थे, वे अब बंद हो जाएँगे। धीरे-धीरे उनका यह भ्रम दूर हुआ। उन्हें पता चला कि अनेक मार्गों से देश का धन विदेश जा रहा है। अत: व्यंग्य द्वारा उन्होंने अंग्रेजी-शासन की भर्त्सना की। भारतेन्दु के बारे में बहुत लोग कहते हैं कि वह देशभक्त थे कि राजभक्त थे। कहना बड़ा मुश्किल है। उन्होंने राजभक्ति में भी बहुत कुछ कहा है और देशभक्ति के लिए भी बहुत कुछ कहा है।

भारतेन्दु बाबू बड़े उदारमना और दीनदयाल थे। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी विपुल संपत्ति लुटा दी। अपने लिए कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारे। अभावग्रस्त लोगों के कल्याण के लिए भारतेन्दु जी घूम-घूमकर भिक्षाटन भी करते थे। दानशीलता के कारण लोग भारतेन्दु जी को 'आधुनिक कर्ण' कहते थे। यह विडम्बना ही है कि अंग्रेज-राज की तीखी आलोचना करने वाले भारतेन्दु जी ने विक्टोरिया महारानी के पुत्र ड्यूक ऑफ एडिनबरा के आगमन पर उनका भरपूर स्वागत किया। स्वर्णाक्षरों से युक्त प्रशस्तिपत्र भेंट किया। काशी भ्रमण कराया तथा उनकी स्तुति में विद्वान पंडितों से कविताएँ भी लिखवायीं। राजभक्ति भारतेन्दु जी के वंश परंपरागत सामंती खून में थी। इसलिए जहाँ उन्होंने एक तरफ ब्रिटेन की महारानी के संबंध में लिखा-''परी अमी की कटोरिया सी, चिरंजीवी रहो विक्टोरिया रानी।'' वहीं अंग्रेजी राज के चलते उन्होंने भारत की दुर्दशा को देखकर समय की माँग के अनुसार अंग्रेजी राज की आलोचना भी डटकर की -

''अंग्रेज राज सुख-साज सबै हितकारी। पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।।'' वे भारत दुर्दशा से बहुत व्यथित थे। भारत की अस्मिता को नष्ट करने के लिए वह अंग्रेजी राज को उत्तरदायी मानते थे। उन्होंने खुलकर लिखा है-

''जो भारत जग में रह्यौ, सबसे उत्तम देश। ताही भारत में रह्यौ अब नहिं सुख को लेस।।'' हमें भारतेन्दु जी के इसी रूप को महत्व देना चाहिए, न कि तथाकथित राजभक्ति को। वह निज भाषा और निज देश के प्रबल पक्षधर थे। (भारतेन्दु ग्रंथावली भाग 1)

दरअसल भारतेन्दु जहाँ खड़े हैं वहाँ एक विचारधारा का अंत हो रहा है। उसे केवल एक विचारधारा नहीं कहेंगे, एक जीवनधारा कहेंगे और एक नई विचारधारा का आरंभ हो रहा है। भारतेन्दु का समय सामंतवाद का अंत है और पूँजीवाद का आरंभ है। मुगलों का शासन समाप्ति पर था, एक तरह से समाप्त हो गया था; और अंग्रेजों का शासन आया। अंग्रेज यहाँ व्यापार की दृष्टि से आए और व्यापार में पूँजीवाद की प्रधानता रही। इस केन्द्रबिन्दु पर या संधिबिन्दु पर कहें- भारतेन्दु खड़े हैं। इस समय को ध्यान में रखना बहुत जरूरी है। उनके पहले के इतिहास को भी ध्यान में रखना बहुत जरूरी है। बाद के इतिहास को ध्यान में रखना भी बहुत जरूरी है। इस संबंध में भारतेन्दु बड़ी स्पष्टता से कहते हैं कि ''भीतर-भीतर सब रस चूसे, हँसि-हँसि के तन-मन-धन मूसै, जाहिर बातन में अति तेज'' ...आदि। ''जाहिर बातन में अति तेज, सब कुछ चूस लेना और ये चूसना शब्द, ''एक्सप्लाइटेशन'' का आज से १३० साल से पहले का अनुवाद, आज एक्सप्लाइटेशन बहुत प्रचलित शब्द हो गया है। तब आर्थिक शोषण की बात बहुत लोग नहीं समझ पाते थे; लेकिन इस 'चूसे' शब्द के भीतर यह बात कितनी खूबसूरती से कही गयी है। टैक्स किस रूप में लग रहे थे और उनका समाज में क्या रूप था? इसे भारतेन्दु की इन पंक्तियों से समझा जा सकता है-''अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी'' बड़ी अच्छी चीज दिखाई पड़ रही है ''पर धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।''

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग भारतीय समाज के नवजागरण अथवा पुनर्जागरण का युग था। वे राष्ट्रीय नवजागरण के अग्रदूत तो हैं ही, हमारे राष्ट्रीय सम्मान और भारतीयों को उनके अधिकार मिले, इसके भी वे हिन्दी क्षेत्र के प्रथम प्रवक्ता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक सशक्त प्रकार के सामाजिक यथार्थवाद के प्रतिष्ठापक के रूप में भी भारतेन्दु हमारे सामने आते हैं। उनके गद्य और पद्य दोनों में हमें इस नए यथार्थ के दर्शन होते हैं जो सीधे देश-दशा तथा देशवासियों की दशा से उनके साक्षात्कार का परिणाम है। ब्रिटिश शासन के खिलाफ पहले भी लिखा गया है और आज भी लिखा जा रहा है। साधारण जन की दयनीय दशाओं पर भी लिखने वालों की कमी नहीं है। ब्रिटिश राज्य की लूट, उसके अमानवीय अर्थतंत्र का निर्मम पर्दाफाश, उसके कुशासन और उसके परिणामों, अकाल, महामारी आदि का जितना यथार्थ, ह्दय द्रावक और रोमांचक वर्णन अपने समय के संदर्भों में भारतेन्दु ने किया है, उतना अन्यत्र नहीं देखने को मिलता। कभी यह प्रहार सीधे विचार के स्तर पर है, कभी व्यंग्य और मखौल के स्तर पर और कभी जीवन्त चित्रों के रूप में। कहीं कोई आरोपण नहीं, यह ब्रिटिश राज्य का कच्चा चिट्ठा है जिसे वस्तुनिष्ठ यथार्थ के धरातल पर भारतेन्दु ने खोला है और हिन्दी में समाजिक यथार्थ की रचनाशीलता के लिए रास्ता साफ किया है। देश और उसके वासियों के प्रति गहरे लगाव के अभाव में, उनकी पीड़ा की तीव्रतम अनुभूति के अभाव में तथा देशहित के सच्चे बोध के अभाव में इस प्रकार का यथार्थ जन्म नहीं ले सकता। भारतेन्दु जी अपने युग के समाज-परिष्कारक ही नहीं, दूरदृष्टा भी थे। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की प्रतिज्ञा सबसे पहले भारतेन्दु ही करते हैं। परमेश्वर को साक्षी देकर उन्होंने घोषित किया था कि आगे कोई विलायती कपड़ा न पहनेंगे, हिन्दुस्तान का बना कपड़ा ही पहनेंगे। उनका यह प्रतिज्ञा पत्र २३ मार्च, १८७४ को 'कवि वचन सुधा' में प्रकाशित हुआ था।

'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' नामक लेख में उन्होंने हिन्दी भाषा की उन्नति पर बल देते हुए कहा था- ''भाइयो, अब तो नींद से चौंको। अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो, जिसमें तुम्हारी भलाई हो। वैसी किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।''(हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, संख्या ३, १८८४) भारतेन्दु

ने 'हिन्दीवर्द्धिनी सभा' में भी भाषा की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यही मूलमंत्र दिया-

''निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल।।
अंग्रेजी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन।।''

(भारतेन्दु ग्रंथावली-दूसरा भाग, पृ. ७३१)

भारतेन्दु जी की मौलिक उद्भावना यही है कि उन्होंने प्राचीन युग को आधुनिक युग से जोड़ा है। वे युग प्रवर्तक एवं युगदृष्टा थे। अत: उस युग का नामकरण उन्हीं के नाम पर 'भारतेन्दु युग' रखा गया। भारतेन्दु जी राष्ट्रीय जागरण के एक सजग युग नेता थे। परिस्थितियों के अनुरूप उनके साहित्य में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति की प्रबल भावना दिखाई पड़ती है। उनकी राष्ट्रीय चेतना देश की सोई आत्मा को जगाने के लिए थी जिसके कारण देश का अधोपतन हो रहा था। अंग्रेजी राज्य की खरी और स्पष्ट आलोचना करना उस समय असंभव था। उस समय की देश-भक्ति यही थी कि सामाजिक परिस्थितियों में भारतवासियों के कल्याणार्थ सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक दृष्टि से जितना भी जन-जागरण अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सके, किया जाए। भारत दुर्दशा नाटक की समस्त कथा तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक यथार्थ की एक जीती जागती तस्वीर है-

''रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई,
हा! हा! भारत दुर्दशा देखि न जाई।।'' (भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग १ पृ. ४६९, 'भारत दुर्दशा'।) गदर के बारे में खुलकर लिखना संभव न था। उसकी स्मृति इसी तरह सुरक्षित रखी जा सकती थी। 'कवि वचन सुधा' में भारतेन्दु जी ने लिखा है-

''यह क्या अनीति नहीं है कि अनुमान दो सौ वर्ष हुए इनका अधिकार इस देश में है। इन्होंने हमारे धन-धान्य की समृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखायो और सब व्यापार और धन सब अपने हस्तगत किया, क्या यह खेद की बात नहीं है कि हमको कला-कौशल से विमुख रखा और आप स्वत: व्यापारी बनकर सब देश भर का धन और धान्य अपने देश में ले गए।'' ('कवि वचन सुधा' पत्रिका २६ फ़रवरी, सन, १८७४)

''प्राचीनता के पोषक एवं नवीनता के उन्नायक, वर्तमान के व्याख्याता और भविष्य के द्रष्टा, सत्य, त्याग, संवेदना के समर्थक, गद्य के स्वरूप एवं पद्य की सजीवता के नियामक एवं रक्षक, हिन्दी के प्राण, स्वजाति के अभिमान, जनता के मान एवं देश के सेवक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ था सन् १८५० को।'' (हिन्दी का गद्य साहित्य-डॉ.रामचन्द्र तिवारी, पृ. २२३) प्राचीन और नवीन के सन्धिकालीन कवि होने के कारण भारतेन्दु हिन्दी साहित्य की सभी विभूतियों को अपने में समेटे हुए थे। स्वयं पिछले युग की सृष्टि होते हुए भी वे नवीन युग के स्रष्टा थे। उनके काव्य में स्वच्छन्दता का प्रारंभिक रूप मिलता है। दो युगों की शैलियाँ आकर उनमें मिल गई थीं। दोनों विचारधाराओं से सामंजस्य स्थापित कर भारतेन्दु अपने युग के साकार प्रतीक बने। उनमें अपने युग की आत्मा ध्वनित हो उठी। डॉ. रामविलास शर्मा का यह कथन सटीक है -''भारतेन्दु ने साहित्यिक हिन्दी को सँवारा, साहित्य के साथ हिन्दी के नए आंदोलन को जन्म दिया, हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय और जनवादी तत्वों को प्रतिष्ठित किया।'(परंपरा का मूल्यांकन-डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. १०७-०८)

उनकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण उनका व्यक्तित्व है, चन्द्रमा के समान प्रकाशमय, दूसरों के सामने अपने कलंक भी प्रकट कर देनेवाला। प्राचीन रूढ़ियाँ तोड़कर नये युग के अनुकूल साहित्य रचना अपूर्व चरित्रबल से ही सम्भव था। भारतेन्दु ऊपर से बड़े कोमल थे। उनमें चरित्र की असाधारण दृढ़ता थी। इसीलिए वे इतना काम कर सके। उनमें ज्ञान की अदम्य पिपासा थी। वे समाज सुधारक थे, विधवा-विवाह के समर्थक थे, स्त्री शिक्षा के प्रबल पक्षपाती थे। उनके विरोधियों की संख्या कम न थी। वे

विरोधियों के सामने शिला की तरह कठोर थे, दुखी-जनों के लिए कुसुम से भी कोमल थे। अँगूठी से लेकर दुशाले तक जो सामने हुआ, उसे उन्होंने याचक को दे डाला। कर्ज के भार से दबे रहे, लेकिन मरने से पहले सब का कर्ज चुका गये। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में ही उन्होंने अपने बारे में प्रकारांतर से नारद जी के मुख से कहलवाया है:

''चंद्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यौहार,

पै दृढ़ हरिचंद कौ, टरै न सत्य विचार।।'' राधाचरण गोस्वामी ने अपने जीवनचरित में भारतेन्दु के बारे में लिखा था -''उनके लेख-ग्रंथ हमको वेद-वाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे, उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कार्यों में वे आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिए उदाहरण थी।'' (परंपरा का मूल्यांकन-रामविलास शर्मा, पृ. १०८, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)

खड़ी बोली हिन्दी के प्रवर्तक, साहित्य की विविध विधाओं में रचना करके भावी पीढ़ियों का पथ प्रशस्त करने वाले, अनेक पत्र-पत्रिकाओं के संपादन में पत्रकारिता के मानदंड स्थापित करने वाले केवल ३४ वर्ष की अल्पायु में सैकडों छोटे-बड़े ग्रंथ रचने वाले, अपने जीवनकाल में ही अनेक रजवाड़ों, संस्थाओं और जनता से हार्दिक सम्मान प्राप्त करने वाले भारतेन्दु बाबू का जीवनरूपी चन्द्रमा भले ही विलुप्त हो गया हो, परन्तु उनकी चंद्रिका युगों-युगों तक हिन्दी जगत में अपनी छटा बिखेरती रहेगी। भारतेन्दु जी केवल साहित्यिक हिन्दी भाषा के निर्माता नहीं थे, वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माता भी थे। भारतेन्दु की लोकप्रियता का कारण यह है कि उन्होंने समाज और साहित्य की आवश्यकताओं को पहचाना, उन्हें पूरा किया। १९५० में भारतेन्दु की जन्मशती उत्सव में भाषण करते हुए हिन्दी के महास्वाभिमानी कवि निराला ने कहा था - ''मैं उनके दरबार का दरबान मात्र हूँ।'' जो शीश किसी के सामने न झुका था, वह भारतेन्दु के आगे नत था। नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु ने हमें यह मंत्र सिखाया था, ''परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रक्खो, अपने देश में अपनी भाषा में उन्नति करो।'' (परंपरा का मूल्यांकन-रामविलास शर्मा, पृ.१०८, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली)

वे आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे एक युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें भक्तिकालीन भावात्मकता, रीतिकालीन श्रृंगारिकता और आधुनिक सामाजिक चेतना का समन्वय हुआ था। उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में विशेष रूप से अपने नाटकों और काव्य में प्राचीन और नवीन का ऐसा सामंजस्य किया कि वे भारत की प्राचीन परंपरा को साथ लेकर भी साहित्य क्षेत्र में क्रांतिकारी नायक माने जा सकते हैं। उनके बाद हिन्दी गद्य और पद्य साहित्य का विकास हुआ है। वह अपने जन्म के लिए ही नहीं, अपने पालन-पोषण के लिए भी भारतेन्दु का ऋणी है। एक सच्चा भक्त, एक सच्चा रसिक और सच्चा राष्ट्र भक्त तथा प्राचीन और नवीन-दोनों युगों का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को हम कह सकते हैं, तो वह हमारी दृष्टि से एकमात्र भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में -''अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भाँति झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है... प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं। (हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

संपर्क : एसोशिएट प्रोफेसर,
हिन्दी एवं पत्रकारिता तथा जनसंचार विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, राजस्थान
मो. : ०९८२९१९६६८३

शंकर शरण

तसलीमा की नई पुस्तक और हम

हाल में प्रकाशित तसलीमा नसरीन की पुस्तक 'एक्जाइल' (पेंग्विन, २०१६) उनके आत्मकथा लेखन की ही सातवीं कड़ी है। इसकी पिछली कड़ी थी- 'द्विखंडितो' जिस पर काफी विवाद हुआ था। पश्चिम बंगाल में बुद्धदेव भट्टाचार्य सरकार ने पच्चीस लेखकों की राय लेकर उसे प्रतिबंधित कर दिया था। फिर, अखबारो में इसकी आलोचना हुई। कुछ लोग इस के विरुद्ध कोर्ट भी गये। तब जोरदार सुनवाइयों के बाद कलकत्ता हाई कोर्ट ने उस प्रतिबंध को निरस्त कर दिया था।

इसे पढ़कर किसी भारतीय पाठक को तसलीमा से अधिक अपने देश की स्थिति पर दु:ख हो सकता है। पुस्तक का कथानक संक्षिप्त है। लेखिका सन् २००४ से २००७, चार वर्षों तक मजे से कलकत्ते में रह रही थी। इस्लाम की आलोचना लिखने के कारण उन्हें विवश होकर बंगलादेश छोड़ने वाली घटनाएँ, आदि उससे एक दशक पहले हो चुकी थीं। वह सब बंगला में ही लिखा गया और कलकत्ते की पत्र-पत्रिकाओं में कितनी ही बार छपा था। उन्हीं लेखनों पर उसी कलकत्ते में उन्हें पुरस्कार मिले थे। वहाँ साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में तसलीमा ससम्मान बुलायी जाती थीं। भारतीय अखबारों में नियमित लोकप्रिय कॉलम लिख रही थीं। यह सब करते वह बिना किसी विशेष सुरक्षा के कलकत्ते में रह रही थीं। यकायक उन्हें नवंबर २००७ में कलकत्ता और फिर मार्च २००८ में भारत छोड़ना पड़ा। यह कैसे हुआ? इसी का वर्णन इस पुस्तक में है।

उनके इस दूसरे निर्वासन की प्रक्रिया कुछ मुस्लिम नेताओं द्वारा हैदराबाद में तसलीमा पर जानलेवा हमला (अगस्त २००७) करने से आरंभ हुई। इसके बाद हमारे शासन और बुद्धिजीवियों ने तसलीमा पर महीनों तरह-तरह से दबाव डालकर, नजरबंद कर, छल-प्रपंच कर, अंततः जबरन भारत से बाहर कर दिया; यानी उलटे पीड़ित को ही दंडित किया और हमलावर उग्रवादी बेफिक्र घूमते रहे। हैदराबाद में उस हमले के बाद आंध्र विधान सभा के तीन विधायकों ने सार्वजनिक रूप से अफसोस जताया था कि वे तसलीमा को मार डालने से चूक गए! मगर आज तक उन विधायकों और हमलावरों को कोई सजा नहीं मिली जबकि तसलीमा को तरह-तरह की पीड़ा झेलनी पड़ी और उन की स्वतंत्रता छिन गई, जो आज तक जारी है।

इस हालात को आज दस साल होने को आए। इस पर हमारे प्रगल्भ बुद्धिजीवियों, रेडिकल मानवाधिकारवादियों, नारीवादी एक्टिविस्टों, दंभी पत्रकारों, आदि ने क्या किया? कुछ नहीं। कैसी विडंबना है पेशेवर आतंकवादियों के लिए, 'भारत के टुकड़े' करने की चाह रखने वालों के लिए भी यहाँ 'मानव अधिकार' के भाषण देने, मुहम्मद अफजल को हीरो बनाने का बचाव करने वाले जाने-माने लोगों ने तसलीमा के पक्ष में कुछ न कहा बल्कि अनेकों ने उलटे तसलीमा को ही बुरा-भला कहा।

पुस्तक के आरंभिक अध्याय 'त्याज्य' (फोरबिडन) में अनेकानेक बड़े बंगला लेखकों, कवियों और बुद्धिजीवियों के उद्धरण हैं। इनमें तसलीमा को तरह-तरह से गई-गुजरी बताया गया है कि न तो वह लेखिका अच्छी है, न व्यक्ति। उन मंतव्यों का मूल स्वर है कि अपनी आत्मकथा 'द्विखंडितो' में तसलीमा ने प्रचार पाने के लिए विभिन्न लोगों के नाम लेकर मनगढ़ंत रूप से अवांछित प्रसंगों का उल्लेख किया है। तसलीमा ने ऐसे दर्जन भर लेखक, पत्रकार, प्रोफेसर निंदकों के आरोप उनके अपने शब्दों में हू-ब-हू उद्धृत किया हैं।

प्रश्न है, यदि वह आरोप सही होते तो लेखिका स्वयं उसको ऐसे विस्तार से क्यों पुन: बताती। यह मोटी सी बात है कि शब्दश: कही गई सच्ची बातें, वह भी वर्तमान, जीवित व्यक्तियों से संबंधित सही बातें खंडित नहीं की जा सकतीं, चाहे कोई कितना ही बड़ा लेखक क्यों न हो। उसे जाँचने, परखने के सौ तरीके होते हैं। अत: यदि तसलीमा पर वे गंदे आरोप सही होते तो वह उसे स्वयं उद्धृत कर पाठकों को पुन: नहीं देती। सचाई की अपनी ताकत होती है। वह सबको निमंत्रित कर रही हैं कि इनकी सचाई स्वयं देखो, परखो। जब लेखिका के पाठक और निंदक-दोनों ही एक ही समय, एक ही समाज में रह रहे हैं, वहाँ इस की परीक्षा सरलता से हो सकती है। जिस परिश्रम से लेखिका ने अपने विरुद्ध उन तमाम घृणित, निन्दात्मक टिप्पणियों को शब्दश: एकत्र करके दिया है, वह प्राय: सच लिखने वाले शोध-कर्ताओं या लेखकों में ही होती है। लापरवाह और मनगढ़ंत लिखने वाले इस की जरूरत ही नहीं समझते। भारत के सेक्यूलर-वामपंथी प्रोफेसराना लेखन में भी बड़े-बड़े नाम इसकी जीवन्त मिसाल हैं जो आरोप लगाना और उसे दुहराते रहना ही जानते हैं, प्रमाण देना या उस की जरूरत भी नहीं जानते।

बहरहाल, हमें बड़ी बात पर ध्यान देना चाहिए कि भारतीय इतिहास में पहली बार किसी लेखक को अपने लेखन, बल्कि अपने पुराने लेखन के लिए मार डालने की कोशिश; फिर यंत्रणा, उत्पीड़न, से होते हुए मरणासन्न कर। जबरन देश-निकाला देने का कांड हुआ! इस पुस्तक में इसी की पूरी कथा है। उन आठ महीनों में लेखिका के साथ जो हुआ, जिन-जिन के हाथों हुआ, जैसे-जैसे हुआ, उसका विवरण अनायास ही हमारी राजनीतिक, बौद्धिक, कानूनी और नैतिक दुरअवस्था का भी दुखद दृश्य दिखाता है। सदियों की गुलामी से निकलकर, स्वतंत्रता के साठ-सत्तर वर्ष बाद भी, भारतीय उच्च-वर्ग एक मानसिक दासता, आत्म-प्रवंचना और बनावटीपन के साथ जी रहा है।

हमारे राजनीतिक-बौद्धिक वर्ग की कैसी व्यंग्यात्मक प्रवंचना है कि वे करोडों अवैध बंगलादेशियों को इस देश में मजे से रहने दे रहे हैं। लाखों ने तरह-तरह के तरीकों से भारत की नागरिकता भी ले ली है; किन्तु एक वैध शरणार्थी, जानी-मानी मानवतावादी, समाजसेवी, लोकप्रिय लेखिका को नागरिकता और शरण देने में उन्हें संकोच रहा है! इस प्रवंचना के पीछे हास्यास्पद स्थिति सबके लिए जग-जाहिर है। चूँकि कुछ इस्लामी कट्टरपंथी तसलीमा को निकालने की माँग करते हैं, इसीलिए तसलीमा को अब तक भारत की नागरिकता नहीं मिली; यह किसे नहीं मालूम! लेकिन क्या इन सबसे भारत की जनता, विशेषकर हमारी सरकार और राजनीतिक तंत्र का इकबाल बढ़ता

है? वस्तुतः, तसलीमा रूपी यह अकेली, निर्वासिता नारी एक मुकुर है जिसमें हम अपना वास्तविक स्वरूप देख सकते हैं।

जब १९६१ में पहली बार सोल्झेनित्सिन की प्रसिद्ध कथा 'इवान डेनिसोविच के जीवन का एक दिन' प्रकाशित हुई थी, उसके कुछ समय तक पूरे सोवियत रूस में बौद्धिक हलकों में किसी की परख की कसौटी यही बन गई थी कि वह सोल्झेनित्सिन के साथ है या विरुद्ध? कुछ हद तक, आज बंगलादेश और भारत में हमारे बुद्धिजीवियों और नेताओं की कसौटी उनका तसलीमा के प्रति रुख माना जा सकता है। अपने कार्य और स्थिति से तसलीमा हमारे लिए वह मुकुर है जिसमें यहाँ का सेक्यूलरिज्म, अभिव्यक्ति स्वतंत्रता, कानून का शासन, मीडिया का अहंकार, न्यायाधीशों का रौब, उदारवादी मुसलमान जैसा संज्ञा-विशेषण, नारीवादियों की सुविधापरक सरगर्मियाँ और मानवाधिकारियों के पक्षपात सभी देखे जा सकते हैं। उन शासकों को भी इसीमें पहचान सकते हैं जो किसी समुदाय विशेष के आतंकवादी से पूछ-ताछ होने पर भी दुःख से रात की नींद खो बैठते थे। वही लोग एक शरणार्थी, एकाकी लेखिका पर कातिल गिरोहों के हमलों से भी निर्विकार बने रहे।

तसलीमा का कसूर यही था कि उसने मध्ययुगीन इस्लामी कायदों से होती मुस्लिम स्त्रियों की दुर्गति पर आवाज उठाई। जानलेवा हमलों और धमकियाँ मिलने पर भी वह सच कहने का जोखिम उठाती रही। मगर कैसी अजीब बात है कि मुक्तिबोध का नाम जपने वाले हमारे वामपंथी अभिव्यक्ति के खतरे उठाने वाली लेखिका नहीं, बल्कि उस पर हिंसक फतवे देने वालों के साथ खड़े हुए। हमारे अधिकांश रेडिकल बुद्धिजीवियों का यही हाल इस आईने में दिखता है।

सब जानते हैं कि मुस्लिम स्त्रियों की हालत के बारे में तसलीमा नसरीन की बातें सच हैं। यह केवल बंगलादेश या भारत की बात नहीं, सारी दुनिया में उन की वही हाल है। इसकी पुष्टि सीरिया की वफा सुल्तान, उगांडा की इरशद माँझी, पाकिस्तानी फहमीना दुर्रानी, अफगानी मलाला और सोमालिया की अय्यान हिरसी अली जैसे अगिनत प्रसिद्ध लेखिकाओं के लेखन से होती है। यह सभी विभिन्न देशों की मुस्लिम लेखिकाएँ हैं। उनके अनुभव उससे भिन्न नहीं, जो तसलीमा ने लिखे हैं। तो क्या ये सारी मुस्लिम लेखिकाएँ गलत हैं? और केवल इस्लामी फतवे देने वाले, जिहादी हिंसा करने वाले सही हैं? दुनिया कब तक एक मध्ययुगीन, असहिष्णु विचारधारा की मनमानी बर्दाश्त करती रहेगी?

भारत में नजारा विशेष रूप से शर्मनाक रहा है। जो बुद्धिजीवी और मीडिया किसी के भी पीछे पड़ जाते हैं, यदि गलती से भी कुछ मुँह से निकल जाए, वही लोग खुली हत्या का आवाहन करने वालों, किसी को मार डालने पर ईनाम घोषित करने वालों के खिलाफ चूँ नहीं करते। उनकी 'असहिष्णुता' के विरुद्ध लड़ने की सारी बहादुरी केवल भले लोगों, मर्यादित संगठनों, आदि के विरुद्ध दिखती है। पिछले बारह वर्ष में उन्हें कभी तसलीमा के पक्ष में या उन्हें प्रताड़ित करने वालों के विरुद्ध कोई अभियान चलाते नहीं देखा गया। उन्हें अपनी ही मतिहीनता, दृष्टिहीनता या भीरुता दिखाई नहीं देती! ऐसे लेखक-बुद्धिजीवी देश की जनता को क्या मार्ग दिखाएंगे!

यह हमारी न्यायपालिका के लिए भी सीधी चुनौती थी। उसे ऐसी गंभीर प्रवृत्ति का स्वयं संज्ञान लेकर उस पर कानूनी नियंत्रण लगाना चाहिए था। असुविधाजनक प्रसंगों से नजर चुराना; हिंसक लोगों को तरह देना; न्याय के मामले में दोहरे मानदंड अपनाना, आदि अंततः न्यायपालिका के दबदबे को गिराएगा; एक चुप्पी दूसरी चुप्पी को जन्म देगी; और इस रुख को विशिष्ट प्रकार के अपराधी ठीक ही अपनी ठसक की स्वीकृति समझेंगे।

वस्तुतः ऐसी स्थिति आई भी इसीलिए है। न

केवल तसलीमा, बल्कि इमराना, गुड़िया, जरीना, और रुशदी आदि कितने ही मामलों में देखा गया कि भारतीय कानूनों का खुला उल्लंघन करके मजहबी और अपनी मनमानी थोपने वालों को सत्ताधारियों ने कुछ नहीं कहा। उलटे, वैसे ही लोगों से तरह-तरह के नेता वोट दिलाने की दरख्वास्त करने जाते हैं, जबकि कोई सीधा पीड़ित भी अपनी पीड़ा लोगों के सामने रखे, तो इसे इस्लाम के विरुद्ध बताकर पुनः वही आक्रामक प्रक्रिया आरंभ कर दी जाती है। क्या इस घातक चक्र को यों ही चलते रहने दिया जाएगा? तब क्या जो आँच तसलीमा को लगती रही है, वही देर-सवेर हमारे शूर-वीर मीडिया हस्तियों और न्यायाधीशों तक भी नहीं पहुँचेगी?

इन प्रश्नों से सभी संबंधित लोग परिचित हैं। केवल अपनी जिम्मेदारी से बचने के लिए एक-दूसरे की ओर देखते हैं। मीडिया इसे न्यायपालिका की जिम्मेदारी समझता है। न्यायाधीश सरकार की ओर, और सरकार के लोग इसकी निरी उपेक्षा करते हैं। इस बीत इस्लामी उग्रवादी अपनी हस्ती का दबदबा भाँपते हुए अपने दाँव बढ़ाते चलते हैं। तसलीमा प्रकरण में यही होता रहा है।

जो लोग इसे कोई अपवाद मामला समझकर महत्व नहीं देते, वे स्वयं को ही भुलावा दे रहे हैं। क्योंकि तसलीमा की लेखकीय, मानवीय स्वतंत्रता केवल उनका अपना या बिलुकल अलग किस्म का मामला नहीं है। तरह-तरह के इस्लामी नेताओं द्वारा किसी भी बात के विरोध में आए-दिन गैर-कानूनी माँगें, गतिविधियाँ, कार्रवाइयाँ की जाती रही हैं। मगर हमारे लोकतंत्र का कोई पाया जान-बूझकर उसका नोटिस नहीं लेता। तब क्या सचमुच भारत में संविधान का शासन रहा है?

इससे पहले तसलीमा को भारत में रहने का वीसा भी पुनः किसी तरह मिला था। कारण, वही मजहबी कट्टरपंथियों का विरोध। उनके वीसा का नवीकरण होते रहने में भी विदेशी सरकारों, दूतावासों, बौद्धिकों के आग्रह का अधिक योगदान है, हमारे लोग तो चुप से ही रहे।

भारत की तरफ से सोचें तो तसलीमा प्रकरण का सबसे दुःखद पक्ष यह है कि उन्हें बंगलादेश में हिन्दुओं की दुर्दशा उजागर करने का दंड मिला है। उनका सब से बड़ा कसूर यही है! अलग-अलग कारणों से इसकी चर्चा कोई नहीं करता; जान-बूझ कर नहीं करता। अपने लेखन में तसलीमा ने बंगलादेश में हिन्दुओं पर होते रहे उस अत्याचार पर आवाज उठाई जिनके लिए विश्व भर में कोई नहीं बोलता; स्वयं भारत के हिन्दू भी नहीं। बंगलादेश ही क्यों! फिजी, अफगानिस्तान या स्वयं भारत के केरल, कश्मीर या नगालैंड प्रांतों में हिन्दुओं के लिए बोलने वाला कोई नहीं रहा है?

इसे नोट करना चाहिए कि मुस्लिम कट्टरपंथ और मुस्लिम उदारवादियों के बीच भी अपनी स्त्रियों की स्थिति पर जो असहमति हो, गैर-मुसलमानों पर मनमानी करने में वे प्रायः एकमत दिखते रहे हैं। पूरे इतिहास में इस पर कोई मुस्लिम स्वर नहीं उठा कि इस्लाम ने गैर-मुसलमानों के साथ सदियों से क्या-क्या अत्याचार किए। यही मुद्दा बंगलादेश के प्रसंग में उठाकर तसलीमा ने अपने को उन कथित उदारवादियों के लिए भी त्याज्य बना लिया जो आधुनिक, सेक्यूलर, वामपंथी कहलाते हैं। वे हिन्दुओं के दुःख के बारे में कुछ सुनना नहीं चाहते। यही मुख्य कारण है कि हमारे देश के उदारवादी तसलीमा से बचते हैं; क्योंकि तसलीमा ने एक वर्जित विषय बंगलादेश में हिन्दुओं की दुर्गति को भी अपनी पुस्तक 'लज्जा' में प्रकाशित कर दिया।

इसलिए भी भारत का उच्च, बौद्धिक, मीडिया वर्ग तसलीमा के बचाव में आने से कतराता रहा है। एक अर्थ में सबसे गई-बीती स्थिति हिन्दू सेक्यूलर, वामपंथी उदारवादियों की है। इनका पहला दुराव हिन्दू

धर्म और हिन्दू पीड़ितों से है; चाहे वह कश्मीर के हिन्दू हों, या नेपाल या बंगलादेश के। हिन्दू सेक्यूलरपंथी उनकी पीड़ा पर कुछ नहीं बोलता; परंतु तसलीमा ने बंगलादेश में हिन्दुओं की दुर्दशा का चित्रण किया। इसी पाप के लिए भारत का सेक्यूलर-वामपंथ उसे क्षमा नहीं कर सका! वह आतंकवादी मुहम्मद अफजल, कसाब या इशरत जहाँ के पक्ष में खड़ा हो सकता है, विदुषी तसलीमा नसरीन के पक्ष में नहीं।

लगता है भारत में स्वतंत्रता की भावना और स्वशासन का उत्तरदायित्व अभी तक मानसिक जड़ नहीं जमा सके हैं। यहाँ के उच्च वर्गीय लोग अभी भी सदियों की गुलामी के प्रभाव में हैं। सन् १९४७ में राजसत्ता हाथ में ले लेने के बाद भी पुरानी आदतवश दूसरों को अपने से ऊपर, श्रेष्ठ, ताकतवर मानते हैं; नहीं तो जब चाहे दो-चार मुस्लिम नेता उन्हें अपनी मर्जी के सामने नहीं झुका सकते थे। संविधान और कानून, न्याय भावना, अभिव्यक्ति स्वतंत्रता और समानता - यह सब अभी तक हमारे कर्णधारों के लिए कागजी प्रतिज्ञा रही हैं। वे उचित-अनुचित सब समझते हैं; मगर देश के कई मर्मभूत हितों के मामलों को 'संवेदनशील' कहकर चुप हो जाते हैं। यह न तो नीति, न्याय के अनुरूप है, न आत्मसम्मान के। कुछ वर्ष पहले तसलीमा ने भारतवासियों से ठीक ही पूछा था: 'कितने समय तक डरते रहोगे?'

इसलिए, लगता है कि अपने देश का शासन चलाना और न्याय करना; अपने हित के लिए डट कर खड़े होना; आदि अभी तक हमारे नेताओं, बुद्धिजीवियों, बड़े लोगों के दिमाग में घर नहीं कर सके हैं। विन्सटन चर्चिल ने सही कहा था कि 'भारत के नेता 'निम्न कोटि के और घास-फूस के बने' हुए लोग हैं।' सचमुच, स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय और हिन्दू हितों की रक्षा की दृष्टि से हमारे कई नेताओं ने चर्चिल को सही साबित किया है।

इस देश के करोड़ों लोगों को वर्तमान भारतीय नेतृत्व से आशा है कि वह दुनिया में हमारे बारे में प्रचलित दुर्बलता, विचारहीनता, लोभ, आदि कलंक को दूर करेगा। हम तसलीमा नसरीन को भारतीय सम्मान देकर, उन्हें भारत की नागरिकता और रहने का घर प्रदान कर अपने को गौरवान्वित ही करेंगे; इसमें कोई संदेह नहीं। यह लाखों मुस्लिम स्त्रियों और उन पीड़ितों का भी सम्मान होगा, जिनके दु:ख को तसलीमा स्वर देती रही हैं।

संपर्क : ......

''भाषा हृदय को उत्तेजित करती है, मन की भावनाओं को दृढ़ बनाती है, आत्मा को शुद्ध रखती है। नवयुवकों के मस्तिष्क में विदेशी भाषा वह भाव कदापि नहीं उत्पन्न कर सकती, जो उनकी मातृभाषा करती है। भाषा और संस्कृति से खिलवाड़ करने वाले राजनीतिक आते हैं और चले जाते हैं। भारतीय संस्कृति की प्रतीक हिन्दी सदा अमर रहेगी। यदि हम अपनी मातृभाषा को खो बैठें तो निश्चय है हमारी राष्ट्रीयता का भी लोप हो जायगा। हिन्दी के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना जागी है। बिना अपनी भाषा की नींव दृढ़ किये स्वतंत्रता की नींव नहीं दृढ़ हो सकती। हिन्दी राष्ट्रीयता के मूल को सींचती और उसे दृढ़ करती है। भाषा ही वह खुराक और वह हवा है जिस पर देश के हर एक बच्चे की विचार शक्ति परवरिश पाती है।'' - राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, सभापति- 13वां अधिवेशन, कानपुर, सं.१९७९

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

निर्मल वर्मा का भारत बोध : प्रामाणिक संस्कृतात्मा का प्रत्यभिज्ञान

बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्यकारों में निर्मल वर्मा का नाम अपने देश और अपने देश से बाहर विदेश में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। साहित्य उनके लिए ज्ञान की एक शाखा मात्र नहीं अपितु ज्ञान की सम्पूर्ण व्यवस्था है। इसीलिए उनकी साहित्य-सर्जना में धर्म, दर्शन, इतिहास, पुराण, संस्कृति, सभ्यता और कला इत्यादि सबके सब विमर्श के विषय बनते हैं। मैं यहाँ उनकी साहित्य-सर्जना के उस पक्ष को उजागर करने का प्रयास करूँगा जो अक्सर लोगों की आँखों से ओझल हो जाता है। निर्मल वर्मा की विचार-भूमि का यह पक्ष एक दार्शनिक का है जो साहित्य से प्रमुदित होकर एक 'सभ्यता-समीक्षक के रूप में आकार ग्रहण करता है। यद्यपि यह समीक्षा भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक बोध को लेकर है तथापि भारतीय संस्कृतात्मा का प्रत्यभिज्ञान कराने के लिए उन्होंने यूरोप का पूर्वपक्ष चकित कर देने वाली मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है। जर्मनी के हैडिलबर्ग विश्वविद्यालय में 'अज्ञेय मैमोरियल व्याख्यान' देते हुए उन्होंने अज्ञेय जी पर मार्मिक टिप्पणी करते हुए कहा था कि "वे समकालीन भारतीय परिदृश्य में उन विडम्बनाग्रस्त विचारकों में से एक थे जो भारतीयों को घर से बेघर हुए जान पड़ते थे; और यूरोपियों को एक ऐसा भारतीय, जिसने अपना घर कभी छोड़ा ही नहीं"- (भारत और यूरोप, पृ. ४०)। देखा जाय तो यह बात अज्ञेय जी के लिए जितनी सही है उससे अधिक स्वयं निर्मल वर्मा के लिए भी सत्य है। अपने वैचारिक जीवन के प्रारम्भिक दिनों में वे समाजवादी यूरोप की विचार-सरणि से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इसीलिए उनके चिन्तन को मार्क्सवादी गोत्र का कहकर परम्परावादी उनकी आलोचना किया करते थे। परन्तु चेकोस्लाविया प्रवास के दौरान मार्क्सवाद का 'हिंसात्मक सत्य' देखकर उनका हृदय कदाचित् रूपान्तरित हुआ। उनके ही शब्दों में "बाद के वर्षों में अनेक उतार-चढ़ाव आए- कम्यूनिस्ट पार्टी में शामिल होना; हंगरी और चेकोस्लाविया की घटनाएँ; स्वयं भारतीय समाजवादी आन्दोलन से निराशा; किन्तु इन सबके बावजूद यह विश्वास अडिग रहा कि जिस अन्याय और उदासीनता की दुनिया में हम जीते हैं, उससे मुक्ति पाने का विकल्प कहीं अवश्य होगा (दूसरे शब्दों में, पृ. ९९)। यही वह विश्वास था जिसके चलते वे भारतीय विश्वदृष्टि की आत्मा को अंतरंग होकर पहचानने में प्रवृत्त होते गए। वस्तुतः भारतीय विश्वदृष्टि की यह अनुपम विशेषता है कि यदि अकस्मात् भी उसके यथार्थ की एक दीप्ति किसी में प्रविष्ट हो जाए तो वह अन्दर ही अन्दर बदलने लगता है। निर्मल वर्मा में हुए ऐसे ही बदलाव के कारण उनके पुराने

मित्रों को उनके चिन्तन में दक्षिणपंथी हिन्दू परम्परावाद की गहरी छाप दिखाई देने लगी। एक ही व्यक्ति के जीवन में विचारों का ऐसा कायाकल्प अविश्वसनीय होते हुए भी वास्तव में वैसे सभी बुद्धिजीवियों का खरा सच है जो अंधश्रद्धा से नहीं, बल्कि आत्मालोचन की गहन प्रक्रिया से गुजर कर भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक अधिकार बोध में स्वप्रतिष्ठ होने की आकांक्षा रखते हैं। यह आकांक्षा सब में हो, यह जरूरी नहीं; परन्तु वैसे व्यक्तियों के लिए सामान्य कही जा सकती है जिनमें अपने स्वरूप और साथ ही स्वरूप से विस्थापित होने की आत्मचेतना किसी न किसी रूप में बनी हुई है। मानो नीत्से की 'शाश्वत वापसी' को संज्ञान में रखते हुए इस आकांक्षा पर टिप्पणी करते हुए निर्मल वर्मा ने उचित ही कहा है कि ''उपनिवेशवाद के कारण उत्पन्न हुए उन्मूलन में एक भारतीय बुद्धिजीवी को कायान्तरण की तमाम अवस्थाओं से गुजर कर ही अपना विश्वसनीय आत्म हासिल हो पाता है'' (भारत और यूरोप, पृ. ४१)।

द्रष्टव्य है कि निर्मल वर्मा के भारत बोध का अन्तरार्थ इसी विश्वसनीय सांस्कृतिक-आत्म को प्राप्त होना है। दूसरे शब्दों में कहें तो - यदि संस्कृति और सभ्यताओं के विश्व इतिहास में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का औचित्य अभी भी शेष है और उसकी दीप्ति से मानवता प्रदीप्त हो सकती है तो उसे उसकी आत्मा में प्रतिष्ठित करना होगा। इसके लिए भारत के प्रामाणिक सांस्कृतिक-आत्म की तलाश और पहचान जरूरी है, ताकि औपनिवेशिक अज्ञान के अंधकार से उस संस्कृतात्मा को मुक्त किया जा सके, जिसका स्वरूप अत्यंत ही धवल है। निर्मल वर्मा इस तलाश और पहचान को 'समझदारी की त्रासदी की समस्या' के रूप में देखते हैं। यद्यपि यह उचित ही है, क्योंकि अज्ञान के निराकरण की समस्या समझ की ही समस्या होती है; तथापि किसी भी सभ्यता-विमर्शक को निर्मल वर्मा की इस दृष्टि में हायडेग्गर के 'प्रोजेक्ट ऑफथॉट' की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ सकती है। यदि इसे सही भी मान लिया जाए तो इससे निर्मल वर्मा की गवेषणा हायडेग्गेरियन नहीं हो जाती, बल्कि औपनिवेशीकृत भारत की वास्तविक समस्या को विदग्धता के साथ सम्बोधित और उद्घाटित करती है। हायडेग्गर तकनीकी नास्तिकता (मनुष्य पर मशीनी-सभ्यता का अप्रतिहत प्रभुत्त्व) को मानव सभ्यता का सबसे बड़ा खतरा मानते हैं। परन्तु इसे वे मनुष्य की कोई ऐसी नियति नहीं मानते जिससे मुक्त होना सम्भव ही नहीं। वे इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि यह वांछित मुक्ति किसी राजनीतिक कार्ययोजना के द्वारा सम्भव न होकर 'प्रोजेक्ट ऑफ थॉट' के द्वारा सम्भव है। (द्रष्टव्य, भारतीयता के सामासिक अर्थ - सन्दर्भ, पृ. ४४)। चूँकि तकनीकी ने हमारी सोच को ही बदल दिया है, इसलिए उस सोच को बदलकर ही हम जीवन और जगत् के उस मौलिक स्वरूप को आत्मसात् कर सकते हैं जो तकनीकी 'इन्फ्रेमिंग' से जकड़ा हुआ न हो। क्या ठीक इसी तरह पिछले दो हजार वर्षों के दौरान विदेशी आक्रमणों, ऐतिहासिक उथल-पुथल और विशेषकर औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया ने भारत के परम्परा बोध को धूमिल और कलुषित नहीं कर दिया है! निश्चय ही भारत की आत्मा को एक छद्म आत्म और उसकी चेतना को एक छद्म चेतना में रूपान्तरित कर दिया गया है। इससे उसके स्वरूप और ऐतिहासिक क्रियान्वयन की सातत्यता ही मानो छिन्न-भिन्न हो गई है। अत: यह कोई राजनीतिक समस्या अथवा राजनीतिक आधिपत्य को मात्र स्वीकार कर लेने की समस्या नहीं है। यदि प्रारम्भ में वह राजनीतिक समस्या रही भी हो तो आज धीरे-धीरे यह राजनीतिक समस्या सांस्कृतिक दासता के तौर पर 'इण्टर्नलायज्ड' हो गई है। अतएव वि-औपनिवेशीकरण के द्वारा भारत के प्रामाणिक आत्म की पहचान और उसे अपने में स्वायत्त करना यदि निर्मल वर्मा के लिए वास्तव में समझदारी की समस्या है तो यह सर्वथा उचित ही है। यदि एक साभ्यतिक राजनीति की ऐतिहासिक साजिश के द्वारा भारतीयों के भारत बोध को बदला गया है तो उस समझ को ही बदल कर हमारी 'सनातन वापसी' हो सकती है। निर्मल वर्मा अपने विभिन्न औपन्यासिक कृतियों तथा बहुविध वैचारिक एवं साहित्यिक निबन्धों में वस्तुतः प्रामाणिक

संस्कृतात्मा में पुनर्प्रतिष्ठ होने की वैचारिक कार्य-योजना को ही विभिन्न स्तरों पर क्रियान्वित करते हैं। इस क्रियान्वयन में वे यूरोप के आत्मखण्डित लेकिन दुर्दान्त अहंकार से ग्रस्त मुखौटे को भी बेनकाब करते हैं; साथ ही साथ उस ऐतिहासिक प्रक्रिया को भी तार-तार करते हुए विश्लेषित करते हैं जिसमें भारत की आत्मा कई स्तरों पर आत्मविभाजित हुई है। इस उपक्रम में वे भारत के आत्मविभाजित खंडों को जोड़ने की वकालत नहीं करते बल्कि उसके अखण्ड स्वरूप का संकेत भी करते हैं जो इतने कर्दम-कलुषों के बीच भी अक्षत बना हुआ है।

इस प्रकार अपने बरक्स भारत की प्रामाणिक संस्कृतात्मा की पुनर्प्राप्ति की गहरी वेदना ही निर्मल वर्मा को भारतीयता के समर्थक बहुतेरे बुद्धिजीवियों से अलग करती है। अपनी इस वेदना से वे एक ऐसी विचार-भूमि निर्मित करते हैं जिसका लक्ष्य औपनिवेशीकरण की बलीयसी प्रक्रिया और उसकी संचालक शक्तियों से जान छुड़ाकर भागना नहीं है बल्कि उसका सामना करते हुए उसे पार कर जाना या फिर आगे निकल जाना है। दूसरे शब्दों में औपनिवेशिक दासता से भारत की मुक्ति का अभियान प्रतिगामी (रीग्रेशन) तरीके से नहीं, बल्कि पुरोगामी (प्रोग्रेशन) तरीके से ही प्रामाणिक तौर पर सम्भव है। द्रष्टव्य है कि अपने समकालीनों में केवल निर्मल वर्मा ही ऐसे नहीं थे जो इस समस्या पर इस तरह सोचते थे। साहित्यकारों की टोली में अज्ञेय और सम्प्रति रमेश चन्द्र शाह के अतिरिक्त कम से कम दो दार्शनिकों का उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा जिनसे निर्मल वर्मा का चिन्तन बहुत हद तक प्रभावित रहा है। इसमें पहले व्यक्ति के.सी. भट्टाचार्य रहे हैं जो वि-उपनिवेशीकरण की फलश्रुति 'विचारों में स्वराज' में देखते थे। इस सम्बन्ध में १९२९ में हुगली कॉलेज के प्रिंसिपल पद से 'स्वराज इन आइडियाज' शीर्षक से दिया गया व्याख्यान बहुत ही दृष्टि-विदारक है। उनके अनुसार ''सांस्कृतिक पराधीनता साधारणत: अचेतन प्रकार की होती है। जब मैं सांस्कृतिक पराधीनता की बात करता हूँ तो मेरा अभिप्राय किसी विदेशी संस्कृति को मात्र अपना लेने से नहीं होता। इस प्रकार का विचार अपना लेना आवांछनीय ही हो, यह आवश्यक नहीं। एक स्वस्थ विकास के लिए यह कभी-कभी जरूरी भी हो सकता है। किसी भी परिस्थिति में उसका अर्थ स्वाधीनता की हानि नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। सांस्कृतिक पराभव केवल तब होता है जब व्यक्ति के अपने परम्परागत विचारों और भावनाओं को बिना तुलनात्मक मूल्यांकन किए ही एक विदेशी संस्कृति के विचार और भावनाएँ उखाड़ फेंकते हैं। वह विदेशी संस्कृति व्यक्ति को एक भूत या प्रेत की तरह अपने वश में कर लेती है। इस प्रकार की पराधीनता आत्मा की दासता है। जब व्यक्ति अपने आप को उससे मुक्त कर लेता है तो उसे लगता है जैसे उसकी आँखें खुल गईं। उसे एक नए जन्म की अनुभूति होती है (द्रष्टव्य, भारतीय दर्शन के ५० वर्ष, ३७३)।

भट्टाचार्य विचारों में स्वराज के माध्यम से जिस नए जन्म की अनुभूति की बात कर रहे हैं। वह वास्तव में अपने आप को फिर से पाना ही है; परन्तु इसके लिए अपने को खोए बिना 'अन्य' से संवाद करना और अपने सन्दर्भ में 'अन्य' का मूल्यांकन करना तथा उस 'अन्य' को सन्दर्भ बनाकर अपने को समझना भी जरूरी है। निर्मल वर्मा 'भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र' नामक विशिष्ट निबन्ध में इस उपक्रम को अनोखे ढंग से साधते हैं; और मानों के.सी. भट्टाचार्य के 'स्वराज इन आइडियाज' पर भाष्य-वार्तिक लिखते हुए प्रतीत होते हैं। के.सी.भट्टाचार्य के अतिरिक्त वह दूसरे व्यक्ति जड़ावलाल मेहता हैं जो औपनिवेशीकरण की अपहितियों को एक 'क्राइसिस ऑफ अण्डरस्टैंडिंग' के रूप में देखते हैं। पारम्परिक और आधुनिक पश्चिम की गहन समझ रखने वाले प्रोफेसर मेहता औपनिवेशीकरण की आत्मपीड़ा को आत्मकथा बनाकर कहते हैं कि ''मैं इस तथ्य को भुला नहीं सकता कि मैं आज के हिन्दुस्तान के जीवन-संसार का भी भागीदार हूँ; और इसके अलावा, इससे परे, पश्चिमी प्रविधि की उस विश्वव्यापी घटना का भी जिसने अब समूची दुनिया को अपने चपेट में ले लिया है, हाइडेगर के मुहावरे में 'वर्ल्ड

सिविलायजेशन' की शक्ल में। ऐसी परिस्थिति में, मेरे लिए करने को बचता ही क्या है सिवा इसके कि मैं पावनता के अविशिष्ट पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए ऐसी भाषा पाने का प्रयत्न करूँ जिससे वे चिह्न और वह आदि स्रोत आज अर्थोन्मेषक ढंग से मुखर हो सकें'' (समेकित दार्शनिक विमर्श, पृ. ९८)। पुन: वे दूसरे प्रसंग से कहते हैं कि ''पूर्व में मेरे लिए कोई दूसरा रास्ता खुला नहीं है सिवाय यूरोपीयकरण के साथ चलते हुए उससे परे निकल जाने के। विदेश और विचित्र की इस यात्रा से गुजरकर ही हम अपने को दुबारा पा सकेंगे; और इसलिए यहाँ भी हमें उसी चीज तक पहुँचने के लिए जो हमारे बेहद समीप है, एक लम्बा रास्ता पार करना होगा'' (भारत और यूरोप, पृ. ४१ पर उद्धृत)। स्पष्ट है कि निर्मल वर्मा का भारत बोध अपने कुछ अतिविशिष्ट समकालीनों की विचार-परम्परा में ही विकसित हुआ है; और सभी के इस बोध का उद्देश्य ''इमैन्सीपेशन ऑफऑथेण्टिक कल्चरल सेल्फ' है।

यहाँ मैंने निर्मल वर्मा के अतिरिक्त उनके समकालीन जिन दो सगोत्रीय विचारकों का जिक्र किया है, उनकी वास्तविक चिन्ता को समझने के लिए औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण के अर्थ और निष्पत्तियों को एक दूसरे से अलग करके समझना जरूरी है। विशेषकर भारत के सन्दर्भ में यह बेहद जरूरी है। औपनिवेशीकरण एक राजनीतिक प्रक्रिया है और उसका लक्ष्य साम्राज्य-विस्तार के लिए परोक्ष-अपरोक्ष रूप से राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करना होता है। यद्यपि इस अर्थ में भी औपनिवेशीकरण यूरोपीयकरण की सवारी अवश्य बनती है; परन्तु यूरोपीयकरण अपने आप में अधिक व्यापक एक सांस्कृतिक-साभ्यतिक प्रक्रिया है। आधुनिकता के नाम पर इसने आज एक बलीयसी विश्वसभ्यता का रूप अख्तियार कर लिया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वैसे उपनिवेश जिनकी कोई सांस्कृतिक-साभ्यतिक पहचान नहीं रही हो, वे औपनिवेशीकरण से मुक्त केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं; और इस तरह राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होकर भी वे सभी यूरोपीयकरण की साभ्यतिक प्रक्रिया के अंगभूत बने रह सकते हैं। अधिकांश उपनिवेश अपनी आजादी के औचित्य का मूल्यांकन इसी दृष्टि से करते हैं। परन्तु क्या भारत का सन्दर्भ भी ऐसा ही है? भारत संस्कृति और सभ्यताओं के बहुध्रुवीय विश्व में एक छोटा-मोटा देश नहीं, अपितु आधा ग्लोब है। इसलिए भारत की स्वतंत्रता का मूल्य अन्य उपनिवेशों को मिली राजनीतिक स्वतंत्रता से न केवल भिन्न, बल्कि व्यापक और बृहत्तर भी है। अत: भारत के लिए औपनिवेशीकरण से बड़ी समस्या यूरोपीयकरण की है। यदि यह समस्या भारत के लिए है तो यूरोप के लिए भी एक कठिनाई से कम नहीं। आज तक यूरोप को भी अपने मिशन में भारतीय प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है; परन्तु अपनी कुछ ऐतिहासिक भूलों के चलते आज हमारी प्रतिरोधक क्षमता कमजोर पड़ गई है। फिर से प्रतिरोधी क्षमता अर्जित करने के लिए और इस समस्या से निजात पाने के लिए भारतीय संस्कृति और सभ्यता के 'अमृतनाभ' को समझना होगा; साथ ही साथ उसे विषाक्त करने वाले 'अंतरंग अन्यों' और 'पराए अन्यों' की पहचान भी आवश्यक है। अन्यथा अपने स्वरूप के प्रति मुग्ध बने रहना कोई अच्छी बात नहीं।

कोई संस्कृति और सभ्यता जब तक अन्यों के परिप्रेक्ष्य में कठोर आत्मालोचन की प्रक्रिया से नहीं गुजरती, वह एक 'आलोचक राष्ट्र' में रूपायित नहीं हो सकती। इसके लिए भारत को औपनिवेशीकरण का विरोध राजनीतिक स्तर पर करने के साथ-साथ इसका प्रतिवाद सांस्कृतिक-साभ्यतिक स्तर पर भी करना होगा। औपनिवेशीकरण का सर्वाधिक नकारात्मक और टिकाऊ प्रभाव यह है कि इसने हम सबों में अपनी ही संस्कृति और सभ्यता के प्रति आत्महीनता का भाव पैदा किया है। आज हममें से अधिकांश वही जानते हैं जो हमने यूरोप से सीखा है। हमारे मन में यह बात भली-भाँति बैठाई गई है कि ज्ञान की सारी जड़ें यूरोप में हैं। यह भी कि भारतीय संस्कृति का विश्व-सभ्यता को कोई योगदान नहीं है। अपने ही स्वरूप के प्रति इस प्रकार के स्मृतिभ्रंश से उबरने के लिए पहले अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रामाणिक बोध को स्वायत्त करना और फिर पूरी

दुनिया के अप्रतिहत यूरोपीयकरण के विरुद्ध एक वैकल्पिक सभ्यता-बोध को उपस्थापित करना होगा।

निर्मल वर्मा के नजरिये से देखें तो भारत की वास्तविक समस्या यह है कि हम १९४७ ई. में राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होकर भी यूरोपीयकरण के अंगभूत बने हुए हैं। आज भारत किसी साम्राज्यवादी सत्ता का उपनिवेश नहीं है। फिर भी वह अपनी संस्कृतात्मा पर यूरोपीय सभ्यता के उस शरीर को प्रत्यारोपित किए हुए है जिसकी आत्मा कबके उसे छोड़कर कर चली गई है। कहा जाता है कि माइकिल एंजिलो की सबसे अधिक सशक्त और उज्ज्वल मूर्तियों में जो गहरे अवसाद के भाव हैं वह इसी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है कि यूरोप के शरीर से यानि आधुनिक यूरोप के शरीर से उसकी आत्मा छोड़ कर चली गई है।

इसीलिए निर्मल वर्मा अपने बहुआयामी विचार-वितान में यूरोपीय सभ्यताबोध के उस पक्ष को बहुत मूलगामी रूप से उजागर करते हैं जहाँ उसे अकूत-भौतिक उपलब्धियों के बीच 'आत्मा विहीन शरीर' और 'संस्कृति विहीन सभ्यता' के रूप में देखा जा सकता है। उनके ही शब्दों में- ''अपनी समूची भौतिक समृद्धि और वैभव के बाद भी यूरोप आन्तरिक उजाड़ की उस 'वेस्टलैंड अनुभूति' से आक्रान्त लगता है जो उसके काव्य और कलाओं में बहुविध रूप से मुखरित हुई है। जिसे आगे चलकर हायडेग्गर ने 'बेघरपन की अनुभूति कहा है (भारत और यूरोप, पृ. ७३); साथ ही साथ वे भारतीय सभ्यता बोध को भी उतने ही मर्मस्पर्शी ढंग से उद्घाटित करते हैं, जिसके चलते आज भी वह तमाम अच्छाईयों- बुराईयों के साथ जीवित हैं। यह कोई कहने मात्र की बात नहीं कि भारतीय संस्कृति की निरन्तरता का शानी दुनिया में कोई दूसरी संस्कृति और सभ्यता नहीं है।

निर्मल वर्मा की दृष्टि में भारतीय संस्कृति का 'अमृतनाभ' उसका आत्मपूरित होना है और उसका लक्षण यह है कि वह 'अन्य' के सन्दर्भ में अपने को परिभाषित नहीं करता (भारत और यूरोप, पृ. ५६)। इस लक्षण को ठोस आधार प्रदान करने के लिए भारतीय संस्कृति की कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को देखना समझना रोचक हो सकता है। इसमें पहला यह कि अतीत में भारत जैसा भी रहा हो, उसकी ख्याति कभी यह नहीं रही कि पराए देशों में अपने प्रसार के लिए उसने कोई जोखिम उठाए हों - न धर्मान्तरण की आकांक्षा से, और न पराए देशों को जीतने की इच्छा से क्या यह विलक्षण बात नहीं कि बिना किसी सैन्य आक्रमण या युद्ध किए एशिया के व्यापक भू-भागों पर भारतीय संस्कृति फैल सकी, जिसे हम 'विशाल भारत' की संज्ञा से जानते हैं (भारत और यूरोप, पृ. ४२)।

दूसरी बात यह कि भारतीयों में दूसरी संस्कृतियों और सभ्यताओं को जानने की उत्सुकता इतिहास के लम्बे अन्तराल में भी दिखाई नहीं पड़ती। यदि कोई भारतीय बाहर गया भी तो जानने की जिज्ञासा से नहीं गया। निर्मल वर्मा के ही शब्दों में -''हिन्दुओं और उनके प्राचीन रीति-रिवाजों को जानने की अपनी जिज्ञासा के लिए यूनानियों और चीनी यात्रियों और बाद में मुसलमान इतिहासकारों के इतिवृत्तों से हम भले ही जान लें कि वे भारत और भारतीयों के बारे में क्या सोचते थे, लेकिन यहाँ के लोग बाहर से आए मेहमानों और उनकी संस्कृति के बारे में क्या सोचते थे, यह जानने के लिए हमारे पास कोई दस्तावेज उपलब्ध नहीं है। यहाँ तक उन मुसलमानों के विषय में भी नहीं जिनके साथ वे बहुत लम्बे समय तक रहे, जिन्होंने उनकी नियति पर सर्वशक्तिमान प्रभुता और धार्मिक विचारधारा से शासन किया, जिसकी वे किसी भी स्थिति में अवहेलना नहीं कर सकते थे; और न ही पारम्परिक हिन्दू ग्रंथों में हम उलेमाओं से हुए दार्शनिक और धार्मिक शास्त्रार्थों का कोई विवरण पा सकते हैं। यह इसलिये और भी विचित्र लगता है, जब हमें यह मालूम हो कि अपनी अनेक अन्य कमजोरियों के बावजूद हिन्दू पण्डित खण्डन-मण्डन के मामले में कभी पीछे रहे हों। जिस बौद्धिक प्रचंडता के साथ अपने बौद्ध प्रतिद्वंन्द्वियों और बाद में कुछ हद तक ईसाई मिशनरियों के साथ शास्त्रार्थ किए थे, वे इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।'' (भारत और यूरोप, पृ. ४३)।

हिन्दुओं की दूसरी संस्कृतियों और धर्मों के प्रति इस चुप्पी और उदासीनता का कारण अक्सर दूसरों के प्रति उनकी जिज्ञासा के अभाव में देखा-समझा जाता है। इसका एक दूसरा कारण यह भी हो सकता कि भारतीयों ने पहले ही एक ऐसी आत्मनिर्भर और आत्मपूरित व्यवस्था तैयार कर ली थी जो जीवन और जगत् की तमाम जरूरतों, जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम थी। अत: उन्हें दूसरी संस्कृतियों से कुछ सीखने की आवश्यकता जान नहीं पड़ी जबकि "आनोभद्रा क्रतवो यन्तु विश्वत:" उनकी खुली जिज्ञासा का आदर्श था। निर्मल वर्मा भारतीयों की इस प्रवृत्ति की व्याख्या विचार की एक भिन्न कोटि में करते हैं। यह कोटि सांस्कृतिक मनोविज्ञान की कोटि है जो सांस्कृतिक - साभ्यतिक चरित्र और व्यवहार को समझने की बहुत कारगर और गहरी दृष्टि प्रदान करती है।

निर्मल वर्मा के अनुसार (भारतीयों का) 'अन्य' संस्कृतियों के प्रति उदासीनता का एक अधिक गम्भीर कारण भी था, वह यह कि उनके लिए अपनी अस्मिता को परिभाषित करने का सन्दर्भ कभी 'अन्य' रहा ही नहीं, जैसे कि यूरोपीयों के लिए था। आत्म को हमेशा आत्म-सन्दर्भी रूप में स्वीकारा गया। 'अन्य' उनकी अस्मिता के लिए न तो कोई खतरा था; और न ही उनकी अद्वितीयता का स्रोत। 'अन्य' की उनकी अवधारणा यूरोपीय संस्कृति की इस अवधारणा से बिलकुल भिन्न थी- अपने से हमेशा अलग एक बाहर की वस्तु, आतंक का स्रोत और आकांक्षा की वस्तु- दोनों एक साथ। सार्त्र की प्रसिद्ध उक्ति 'दूसरे-वे नर्क हैं', हेगल की सशक्त प्रतिध्वनि मालूम देती है, जहाँ आत्म हमेशा 'अन्य' के विरुद्ध ही अपनी अस्मिता को परिभाषित करता है- एक ऐसा 'अन्य' जिसे या तो अधिगृहीत किया जा सकता है या फिर नष्ट ही किया जाना चाहिए (भारत और यूरोप, पृ. ४४)।

'अन्य' की भारतीय और यूरोपीय अवधारणा का जैसा अन्तर निर्मल वर्मा ने किया है वह दोनों परम्पराओं की दार्शनिक दृष्टि से भी संगत है। भारतीय दर्शन में चेतना स्वसंवित् या स्वयंप्रकाश होने से अपने तात्त्विक स्वरूप में ही स्व-संदर्भी है जबकि यूरोपीय दर्शन में चेतना का मतलब ही 'ऑफ कॉन्शसनेस' होने से वह सदैव पर-संदर्भी ही होती है। पर-संदर्भी आत्मचेतना के संदर्भ में 'अन्य' की यूरोपीय अवधारणा अपने आप में बड़ा ही द्वंद्वात्मक है। यदि 'अन्य' को वह पूरी तरह अपने वश में कर लेता है तो स्वयं उसकी अस्मिता संदेहास्पद हो जाती है। यद्यपि वह 'अन्य' को नष्ट करके ही पूर्ण होना चाहता है, लेकिन बिना 'अन्य' के वह कुछ भी नहीं रहता। बिना 'अन्य' के कुछ नहीं होना यानी सार्त्र का 'नथिंगनेस'। अत: यूरोपीय संस्कृतियों के लिए 'अन्य' अपनी 'असमावेशी अन्यता' में ही जिज्ञासा का विषय बनता है, जबकि भारतीयों के लिए 'अन्य' जब तक किसी तरह अपने या अपने तंत्र में समाविष्ट न हो तो वह एक ऐसा सम्बोधि बन ही नहीं सकता जिससे अर्थपूर्ण संवाद किया जा सके।

हिन्दू परम्परा के लिए बौद्ध ऐसे ही 'अंतरंग अन्य' थे। इसीलिए ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच एक हजार से अधिक वर्षों तक शास्त्रार्थ चला और दोनों एक दूसरे को भरपूर सम्बोधित कर पाए। बौद्ध पराए होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से समानतंत्री थे। उनका परायापन धार्मिक दृष्टि से भले ही असमावेशी हो; लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से वे उसी तरह अंतरंग रहे जिस तरह भारतीय संस्कृति के अंतरंग शैव, शाक्त और वैष्णव रहे हैं। यदि बौद्ध सांस्कृतिक स्वायत्तता का दावा किए होते तो कठिनाई जरूर होती, लेकिन ऐसा हुआ नहीं। इसीलिए निर्मल वर्मा का यह कथन बहुत ही समीचीन है कि बौद्ध धर्म भारत में लुप्त नहीं, लीन हो गया (भारत और यूरोप, पृ. ४५)। परन्तु यही बात भारत के इतिहास में मुसलमानों और ईसाईयों के लिए नहीं कही जा सकती। इन दोनों की 'अन्यता' धार्मिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टियों से हिन्दू परम्परा के लिए 'असमावेशी अन्य' की कोटि में आता है। यही कारण है कि ये दोनों धर्म व्यापक धर्मान्तरण करवाने के बाद भी भारत में संस्थाबद्ध तो हैं लेकिन संस्कृतिबद्ध नहीं हो पाए हैं। इस देश में धर्मान्तरण तो बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर ने भी करवाए, लेकिन बौद्ध पक्ष में यह धर्मान्तरण बाबा

साहब के द्वारा किया गया 'इण्डोसमोशिस' कृत्य ही था। अतः नवबौद्ध भी भारतीय संस्कृति के लिए असमावेशी अन्य नहीं, अपितु अन्तरंग अन्य ही हैं। भारत में दलित आन्दोलन की सफलता का राज भी यही है कि यह आन्दोलन उस वर्ग द्वारा सांस्कृतिक - पहचान की मांग थी जो भारतीय संस्कृति का अंतरंग अन्य है।

यूरोपीय सभ्यता के बरक्स भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता को संज्ञान में लेना यहाँ बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। यह विशेषता यूरोप से संवाद करते हुए भारतीय संस्कृतात्मा की प्रामाणिक पहचान के लिए गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है। वह यह कि भारतीय विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि का स्वामी नहीं माना जाता। मनुष्य भी चराचर में तमाम जीवित प्राणियों के बीच महज एक प्राणी ही है। इसके विपरीत यूरोपीय विश्वदृष्टि में बाइबिल (गॉड हैज क्रिएटेड मैन इन इट्स मिनी इमेज टु रूल ऑवर अर्थ...) से लेकर विज्ञान (प्रकृति का विजेता मनुष्य) तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व को बनाए रखा गया है। यही वह अन्तर है जिसके चलते इतिहास की भारतीय दृष्टि मानवीय अतीत की अवधारणा के घेरे में बँधी नहीं रह जाती, बल्कि समस्त चराचर के अतीत से जुड़ जाती है। आश्चर्य है कि यूरोपीय मनुष्य द्वारा विकसित विज्ञान और तर्कणा की भाषा आज तक इस विशाल, जीवन्त और रहस्यपूर्ण मानवेतर संसार से सम्प्रेषण करने का कोई भी रास्ता सुझाने में निष्फल रही है। निर्मल वर्मा के शब्दों में कहें तो "मानवीय संसार का मानवेतर संसार से अलगाव यूरोपीय सभ्यता का सबसे त्रासद आयाम रहा है जिसने गोएटे को यह कहने के लिए विवश किया कि हर अलगाव में विक्षिप्तता के बीज हैं। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम उसे पनपने न दें" (भारत और यूरोप, पृ. ७९)। इस अलगाव से यूरोपीय आत्मा की लहू-लुहान विक्षिप्तता ही होल्डरीन और रिल्के की काव्य और कलाकृतियों में दिखाई पड़ती है।

इसके ठीक विपरीत भारतीय जीवन-दृष्टि को इस अलगाव का सामना इसलिए नहीं करना पड़ा कि उसने मानवेतर संसार से कभी अपने 'मिथिकीय' सम्बन्धों को त्यागा नहीं। इस जीवन-दृष्टि के लिए इस अलगाव पर विश्वास करना मुश्किल है जिसमें जीवन एक रूप से दूसरे के बीच पुनर्जन्मों और कायान्तरों की एक अटूट श्रृंखला है, जहाँ हर जीव के भीतर दूसरे के रहस्योद्घाटन की कुंजी छिपी है। भारतीय दर्शन, धर्म और नीति इत्यादि के द्वारा मनुष्य और प्रकृति, मानवीय और मानवेतर संसार के बीच के सम्बन्धों के रहस्यों को ही खोलने के बहुविध प्रयास किये गए हैं। 'देवं भूत्वा देवं यजेत्' के वैदिक आदर्श से लेकर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के औपनिषद् आदर्श में यह गहरे प्रतिध्वनित होता है। प्रत्येक भारतीय के लिए ऋणत्रय की व्यवस्था और प्रतिदिन पंच महायज्ञों का विधान मानवीय और मानवेतर सृष्टि के बीच सामरस्य स्थापित करने का ही तो कर्त्तव्य विधान है। निर्मल वर्मा इस भारतीय दृष्टि का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए उचित ही कहते हैं कि "प्रकृति रहस्यपूर्ण है, जैसा कि हर 'अन्य' सत्ता होती है। लेकिन उससे आतंकित होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह मनुष्य का एक अंश भी है - मानवीय प्रकृति, उसका स्व-स्वभाव" (भारत और यूरोप, पृ. ८०)।

ऐतरेय उपनिषद् में मनुष्य और प्रकृति, बाह्य और आभ्यन्तर की स्वभावगत एकता को ही तो यह कहते हुए प्रतिध्वनित किया गया है कि - 'अग्निर्वाग भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत। आदित्यश्चक्षुषी भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोतं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औषधिवनस्पतयो भूत्वा त्वचं प्राविशत्। चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतोभूत्वा शिश्नं प्राविशत्।' भागवत पुराण में भी चराचर सृष्टि के अविरोध को उद्घाटित करते हुए कहा गया है 'अहस्तानि सहस्तानां अपदानि च चतुष्पदां, फल्गुनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनम्।' लेविस्त्रास ने ऐसी ही अन्तर्दृष्टियों को सम्भवतः "एंकर प्वाइंट्स ऑफ इस्टर्न कल्चर' यानी पूर्वी संस्कृतियों के सम्पर्क सूत्र कहा है। परन्तु बिडम्वना यह है कि यूरोपीय सभ्यता ने इन सम्पर्क सूत्रों से जुड़ना कभी स्वीकार नहीं किया। इसे पश्चिमी मन

का अहंकार कहा जाए या दम्भ कि वह पौर्वात्य अनुभव के सहयोग से अपने परिष्कार के लिए भी तैयार नहीं होता।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का एक और विलक्षण लक्षण उसके इतिहास बोध में निहित है। ऐसा इतिहास बोध जिसमें अतीत कोई बीती हुई याद न होकर मेंहदी की तरह वर्तमान में रची-बसी रहती है। यह कोई ऐसी ऐतिहासिक स्मृति नहीं जैसी यूरोपवासियों की इतिहास-चेतना में ग्रीस की सभ्यता एक निर्जीव स्मृति मात्र है; और जिसे वह पुस्तकों अथवा संग्रहालयों में याद तो कर सकता है लेकिन उसके वर्तमान को सम्बोधित नहीं करता। निर्मल वर्मा के शब्दों में, भारतीय सभ्यता की यह अद्भुत विशेषता रही है जो उसके जीवन्त होने की मर्यादा है कि वह 'अतीत' को व्यतीत न मानकर उसे समकालीन की प्रतीक व्यवस्था में संयोजित कर पायी है, जो आज भी उतनी ही अर्थवान और संस्कार सम्पन्न है जितनी पहले कभी थी(भारत और यूरोप, पृ. १५)। ऐसी इतिहास दृष्टि में ही पूर्वज बोध माता-पिता से लेकर ईश्वर तक विस्तार पाता है। तभी तो कृष्ण पूर्वजों में अपने को 'अर्यमा' कहते हैं। संस्कृतात्मा की उत्तरजीविता के लिए निश्चय ही ऐसी दृष्टि स्वागत योग्य है और आत्मचेतन मनुष्य के लिए संगत भी। वह संस्कृतात्मा अतीत की मलिनताओं से मुक्त अपने धवल स्वरूप में वर्तमान को सम्बोधित करे, इसके लिए एक विशेष प्रकार की आत्मालोचक आत्मचेतना न्यूनाधिक रूप में स्वाभाविक रूप से सक्रिय होती है। इसीलिए अतीत की बुराईयों से वर्तमान दोषयुक्त भी होता है और परिष्कार तथा प्रक्षालन की प्रक्रिया भी साथ-साथ चलती है।

भारतीय इतिहास में संस्कृतात्मा का ऐसा जीवन-चक्र स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। आधुनिक यूरोप की इतिहास-चेतना वर्तमान और अतीत में सीधा-सीधा भेद करती है। इसमें उस सूत्रात्मा का नितान्त अभाव है जो वर्तमान को उसके अतीत से जोड़ सके। एक आधुनिक यूरोपीय के लिए अतीत मानो जड़ वस्तु है और उससे उत्तरोत्तर अपने को काटते जाना ही प्रगतिशील वर्तमान है। द्रष्टव्य है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता अपने इन्हीं गुण-लक्षणों के चलते यूरोप के लिए सदैव ही विस्मयबोधक बना रहा है। उसकी विश्वदृष्टि के साँचे में यह समायोजित नहीं हो पाता। इस सन्दर्भ में निर्मल वर्मा की टिप्पणी बड़ी सटीक है कि "भारतीय सभ्यता का अस्तित्व पश्चिम के लिए एक विडम्बना, एक पहेली, एक विरोधाभास जान पड़ता रहा है। यदि वह यूनान और मिस्त्र की सभ्यता की तरह महज ऐतिहासिक स्मृति का अवशेष होती तो वह मृत किन्तु मूल्यवान सत्य हो सकती थी, यदि वह एक अफ्रीकी या लातिन अमरीकी कबीले की तरह कुछ प्रागैतिहासिक प्रथाओं का पुंज मात्र होती तो हजारों नृतत्वशास्त्री इसकी चीरफाड़ करने यहाँ पहुँच जाते; या फिर अगर वह अपने को किसी धर्म विशेष में सिकोड़ कर एक असहिष्णु सम्प्रदायगत 'राष्ट्र' में बदल देती, तो भी वह ईरान या पाकिस्तान की तरह स्वीकार्य हो सकती थी" (भारत और यूरोप, पृ. १४)। कठिनाई यह है कि परम्परागत भारतीय सभ्यताबोध को न तो उस ढाँचे में ढाला जा सकता है, जिसमें वर्तमान सदैव अतीत से अपने को वियुक्त करने में फलित होता है और न ही इसे मजहब, कबीले या आधुनिक राष्ट्र-राज्य की किसी बनी बनाई श्रेणी में संकुचित किया जा सकता है। अत: एक ओर आधुनिक यूरोप द्वारा अपने दर्पण में भारत की आत्मछवि को देखना उसकी इतिहास-दृष्टि की मानो प्रागनुभविक विवशता है; तो दूसरी ओर इस इतिहास-दृष्टि को चश्मा बनाकर भारतीय संस्कृति और सभ्यता को समझना एक सरासर बेमानी है। यही कारण है कि आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप- दोनों के पैरोकारों ने भारत की तस्वीर का अपने-अपने तरीके से प्रतिरूपण किया, जो उसके समृद्ध और गौरवशाली अतीत से कटी हुई थी। इस तरह वास्तविक भारत दोनों की आँखों से ओझल ही बना रहा, क्योंकि वह इनकी आँखों में समा ही नहीं सकता था।

यह बात ठीक वैसे ही है जैसे पराए अजनबी को किसी शहर के वासी हमेशा एक 'भीड़' दिखाई देते हैं। उस भीड़ की लय और अन्तर्धारा का रहस्य सिर्फ उस नगर

का वासी ही जानता है (भारत और यूरोप, पृ. २१)। क्या भारत के प्रति यह एक अजनबी-दृष्टि नहीं कि हेगल अपनी यूरोकेन्द्रित अवधारणात्मक योजना में भारत को आत्मचेतना के विकास में स्वप्निल अवस्था मानते हैं और यूरोप को आत्मचेतना की शीर्ष अवस्था में प्रतिष्ठित करते हैं। क्या भारतीय संस्कृति को सामन्तवाद की जर्जरित मरणासन्न स्थिति में देखना मार्क्स की अपनी इतिहास-दृष्टि की मजबूरी नहीं है? वस्तुत: आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप के कायदे-आजम हेगल और मार्क्स अपनी-अपनी इतिहास-दृष्टि के चलते ही भारत की नियति अपनी-अपनी टिप्पणियों में टाँक देते हैं। हेगल का विश्वास था कि भारत तभी अपने को एक बार फिर मूर्तिमान कर सकेगा जब वह अपने अतीत को यूरोपीय वर्तमान में ढालेगा। इसी तरह मार्क्स की दृष्टि में भारत अपनी नियति को ऐतिहासिक भौतिकवाद की प्रक्रिया से गुजर कर ही प्राप्त हो सकता है।

अवधेय हो कि भारत और यूरोप के बीच ऐतिहासिक दुरभिसंधि का यही वह स्थल है जहाँ से आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप की भारत को प्राधिकृत करने की अपनी-अपनी कार्ययोजना शुरू होती है। एक के लिए वास्तविक भारत पुरातात्त्विक स्थल से ज्यादा कुछ नहीं, जहाँ से उसके बौद्धिक और आध्यात्मिक वैभव, उसके प्राचीन दर्शन और महान साहित्यों को खोदकर ही निकाला जा सकता था। दूसरे के लिए वास्तविक भारत ऐतिहासिक भौतिकवाद के जर्जरित सामन्तवाद के सोपान पर उसकी प्रयोग भूमि बनने के लिए अभिशप्त था। इस तरह भारत की एक ऐसी आत्मप्रतिमा निर्मित हुई जिसके अतीत और वर्तमान में बहुत चौड़ी सांस्कृतिक फाँक की दरार पड़ी हुई थी। इसी दरार को पैदा कर उसे उसके सुदूर अतीत से काटकर 'प्रोजेक्टेड वर्तमान' की दहलीज पर यूरोपीय वर्तमान से प्रतिकृत होने के लिए तैयार किया जाने लगा। एक ओर उसका अपराजेय अतीत, जिससे उसका वर्तमान प्रतिध्वनित नहीं हो रहा था; तो दूसरी ओर उसका आसन्न वर्तमान जो पूरे तौर से यूरोप द्वारा प्राधिकृत किए जाने हेतु चतुर्दिक रूप से सम्बोधित हो रहा था। इस तरह आधुनिक भारत आत्मप्रतिमा के संकट से ग्रस्त एक सांस्कृतिक-संकट वाले देश में रूपान्तरित हो गया। अत: यदि हम वास्तविक भारत के इस वास्तविक संकट को समझते हैं तो किसी भी भारतीय के लिए अपने विश्वसनीय आत्म को हासिल करना, प्रामाणिक संस्कृतात्मा में पुनर्प्रतिष्ठ होना सबसे जरूरी कार्ययोजना हो जाती है। निर्मल वर्मा वास्तव में अपने सम्पूर्ण साहित्यिक उपक्रमों से इसी कार्ययोजना को 'प्रोजेक्ट ऑफ अण्डरस्टैंडिंग' के रूप में साधते हैं। यह कार्य एक जटिल वाद्ययंत्र के सुर मिलाने जैसा है। इसका फल संस्कृतात्मा के नि:शंक, निर्द्वन्द्व और निर्भ्रान्त बोध में प्रतिष्ठित होकर उसे क्रियान्वित करना है। ऐसा क्रियान्वयन जिसे आत्मक्रियान्वयन से अभिहित किया जा सके।

निर्मल वर्मा द्वारा साधे गए इस उपक्रम के औचित्य को श्रीमद्भगवतगीता के सन्दर्भ में भी आत्मसात् किया जा सकता है। गीता भी एक 'प्रोजेक्ट ऑफ अण्डरस्टैंडिंग' ही है। उसका लक्ष्य भी विषादयुक्त अर्जुन को प्रामाणिक आत्मबोध और धर्मबोध में प्रतिष्ठित कर उसकी प्रस्थिति और भूमिका को तय करना है। यदि गीता का 'प्रोजेक्ट ऑफ अण्डरस्टैंडिंग' एक धर्मयुद्ध में क्रियान्वित हो सकता है तो भारतीय संस्कृतात्मा की अभ्रान्त समझ की कार्य-योजना भी औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण के प्रतिवाद का सामर्थ्य प्रदान कर सकती है। अत: भारत की प्रामाणिक संस्कृतात्मा के प्रत्यभिज्ञान द्वारा इस सामर्थ्य को हासिल करना ही आज समस्त भारतीयों का आधुनिक स्वधर्म है।

संपर्क : दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, ४७०००३ (म.प्र.)
मो. ९४०६५११४९८

नरेन्द्र परिहार

भाषा की एकता के लिए भाव व वाक्य एक सूत्र हो

मानव एकता के लिए भाषा एक सूत्र है तो उसकी एकरूप अनिवार्यता एक आवश्यकता है। बोलियाँ स्थान, क्षेत्र के अनुसार अपना रूप, अपना अस्तित्व रख सकती हैं, अगर विश्व भाषा का एक पटल बन जाये, परंतु राष्ट्रवाद की कट्टरता, सत्ता की ताकत व आकर्षण व चंद लोगों की असीम दौलत की चाह के कारण तथा अन्य कठिनाइयों के कारण भाषा की एकता स्वीकार्य नहीं हो सकी; और न ही भाषाविज्ञान के रक्षक या विश्व समुदाय के लेखक इस दिशा में प्रयास करते दिखे। वे भी राष्ट्र की सीमा में अपने हित समेटते व पुरस्कार प्राप्त कर अपनी हैसियत का ढोल पीटते मिले।

आज हमें यह समझना ही होगा कि बोली की सीमा संकीर्ण व स्थानीय समुदाय तक फैलाव लिए होती है। बाहरी व्यक्ति, भले ही वह शिक्षित या विद्वान हो, उसे समझ ही नहीं सकता तो हमारा मत है कि हम राष्ट्रभाषा या राजभाषा की कट्टरता को त्याग विश्व स्वीकार्य भाषा स्वीकार करें व बोलियों के अस्तित्व के लिए वहाँ के निवासियों को भ्रमित न करें। स्थानीय बोली और एक भाषा पर हमें अपना मन बना उसके प्रचार-प्रसार में लग जाना चाहिए। बोलियाँ अपना अस्तित्व नहीं खोएँगी अगर रोजगार की उपलब्धता या खेती के रक्षण पर सरकारें काम करने लगें। बाहरी व्यक्ति आकर जहाँ बस जाता है, बोलियों को अपना ही लेता है। बोलियों का दायरा संकीर्ण हो और भाषा का व्यापक; तो सह अस्तित्व के साथ राष्ट्र से ऊपर मानव एकता का सिद्धांत स्वयं पसर जाएगा। भाषा वैज्ञानिक भी मानते हैं कि विश्व भाषा तीन सूत्रों पर चलती है-

१.स्थानीय बोली - यह आसपास के क्षेत्रों की बहुत-सी बोलियों का सामूहिक रूप होता है।

२. व्यक्ति बोली - यह भाषा का लघुत्तम रूप है जो व्यापक रूप से दृष्टिगोचर होता है। वह व्यक्ति के जन्म से मरण तक अपना रूप बदलता रहता है।

३. भाषा - यह कई बोलियों का प्रांतीय व राष्ट्रीय सामूहिक रूप है; जैसे भारत में हिंदी, गुजराती, मराठी, तेलगु, तमिल, उर्दू, गुरुमुखी, कन्नड़, उड़िया, बंगाली, असमी, अँग्रेज़ी आदि।

स्थानीय बोली व व्यक्ति बोली स्वयं नागरिक व स्थावर समुदाय द्वारा बिना अक्षर ज्ञान

के अपना स्थान निर्धारित कर लेती है; परंतु भाषा प्रांत, राष्ट्र या विश्व बाजार निर्धारित करता है, जहाँ एकरूपता आवश्यक है। स्थानीय भाषा या व्यक्ति बोली विभिन्न बोलियों के वर्णसंकर से निर्मित हुई। आज २७९६ बोलियाँ हैं; और भी बोलियाँ अस्तित्व में आ सकती है।

हमें समझना होगा कि जब काम बोलियों से चल सकता है तो भाषा की क्या जरूरत! क्या बिना भाषा ज्ञान के हम शिक्षित नहीं माने जायेंगे! वैज्ञानिक युग में जहाँ कई अन्वेषण हो रहे हों तो उनको व्यक्त करने या समझाने के लिए आँख के इशारे, मुँह के इशारे, अँगुली व हाथ के इशारों या जानवरों, कीट या पक्षियों की ध्वनियों के उच्चारण से काम नहीं चलाया जा सकता। उसके लिए बोलकर या लिखकर ही व्यक्त किया जा सकता है। जिस लिपि या भाषा में उसका उच्चारण होता है या यूँ कहूँ कि विचार व्यक्त किए जाते हैं, उसे समझने वाले को भी वह भाषा का या लिपि का ज्ञान होना चाहिए। तभी उसके मन पर वह बिंब अपना आकार ले सकेगा। मतलब भाषा का अर्थ विचारों को व्यक्त करना है। गूँगे, बहरों के इशारों को भी भाषा ही माना जाता है, परंतु विचार जो भाषा का प्राण अथवा आत्मा है, वहाँ वह नयापन लिए नहीं होती। सिर्फ उन चिन्हों को दोहरा सकती है और वही छाप मानसिक पटल पर उद्धृत कर सकती है।

भाषा का जन्म ध्वनियों को सुनने से शुरू होता है, यह एक प्रतिपादित सिद्धांत है; क्योंकि पैदा हुआ बालक अगर बहरा है तो वह देवताओं के नाम पर निमित्त, पशु-पक्षियों की ध्वनियों के अनुकरण द्वारा, स्वाभाविक आवेग द्वारा, परिश्रम द्वारा, इशारों द्वारा, सांकेतिक ध्वनियों के आपसी सम्पर्क द्वारा, बोलियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न नयी ध्वनियों द्वारा उत्पन्न बोली या भाषा में नहीं बोलता बल्कि गूँगा बच्चा इन ध्वनियों को सुन उपरोक्त माध्यमों से अभिव्यक्ति की शुरुआत करता है और वही दोहराता है जो ग्रहण करता है; याने भाषा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा ग्रहण की जा सकती, व्यक्त की जा सकती है परंतु प्रत्येक व्यक्ति द्वारा रची नहीं जा सकती। मानव के दिल और मति में सबसे पहले चिंतन भाव व विचार जन्म लेते हैं और इन भाव व विचारों पर चिंतन मनुष्य की अवस्था प्रतिक्रिया स्वरूप बनती है। यहाँ दोहराने की क्रिया हो या नवीन अभिव्यक्ति हो, वह भाषा का आधार लेती है। इसे भाषा का जन्म कहते हैं। इसे स्वीकार वहीं करेगा जो भाषा की ध्वनियों के उच्चारण या रूप से भलीभाँति अवगत हो।

चिंतन शब्दों के युग्म से मिलकर एक स्वरूप लेता है जिसे वाक्य कहते हैं। याने वाक्य के अंतर्गत शब्द आता है और वह वाक्य से पहले आता है, ठीक उसी प्रकार से जैसे चिंतन भाव से पहले चिंतन विचार आता है। मूलतत्व यह है कि स्वतंत्र शब्द, स्वतंत्र विचार का कोई अस्तित्व नहीं होता, वाक्य व भाव का अपना अस्तित्व होता है और अपना प्रभाव भी। विचार या वाक्य किसी भी शब्द के जोड़ से या भाव से बने हों, मनुष्य के दिल और दिमाग पर एक ही प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते हैं, परंतु आकार ज्ञात शब्द या भाव से ही स्वीकार्य होते हैं। भाषा की उत्पत्ति लाखों वर्ष पहले हुई। इसका आधार खोजना एक अलग विषय हो सकता है याने अनुमान लगाया जा सकता है। भाषा की लिपि निर्धारित कर भाषा वैज्ञानिकों ने प्राचीन देशों का प्राचीन से अर्वाचीन काल तक का इतिहास कई लिपियों में उनके उत्पन्न तथा विकास का बोध करा मानव को समझाने का प्रयत्न व स्वीकार्य करने को बाध्य किया है। यहीं भाषा की कट्टरता का अपने अस्तित्व व इतिहास की प्रगाढ़ता दिखाने के उपक्रम में जन्म होता है। एक स्वीकार्य भाषा पर पहुँचना कठिन हो चुका है। अब तो मनुष्य अक्षर के उच्चारण के बदलाव भी स्वीकार्य नहीं करता।

भाषा का आधार शब्द है तो भाव का आधार विचार है। उनका आदान-प्रदान ध्वनियों के साथ चिह्न व शब्दों के साथ करते हैं। इसका विकास मानव के चिंतन व अविष्कारों के साथ परिवर्तन लेकर नई ध्वनियाँ,

समिश्रण ध्वनियों के साथ हुआ। यहाँ शब्द नहीं बदलते बल्कि शब्दों के युग्म से एक नया आकार जन्म लेता है जो उस भाषा या लिपि में स्वीकार्य हो जाता है; और दूसरी लिपि या भाषा में भेजकर उनके विचारों को उद्वेलित कर एक भाव उत्पन्न किया जाता है जिसे वे अपने स्थानीय भाषा या रूप में प्रचलित भाव या विचारों के साथ तालमेल बैठाकर नई ध्वनियों व आकार को जन्म देते हैं जो स्वीकार्य कर लिया जाता है। यही बदलाव या नया रूप भाषा की कट्टरता व स्वयंभू की प्रधानता का एक रूप है जो भाषा की एकता में बड़ा रोड़ा है। फिर भी यह परिवर्तन ही मानव जीवन है; और अपरिवर्तन या जड़ता है: मृत्यु। भाषा व लिपि चिंतन की श्वास व आत्मा है जिनके बिना मानव जीवन का सुख, आनंद व विकास की कल्पना करना ही मृत्यु का आवरण है। भाषा लिपि का वाहन है। भले 'डीमॉड्यूलेशन' उस भाषा व लिपि का पुर्नजन्म है जो लिपि, शब्द, भाव व ध्वनियों का बदलाव नहीं लाती। बस, प्रयुक्त होने वाला यंत्र प्रवाह की गति को कम-ज्यादा कर सकता है। कोई दूसरी लिपि या शब्द में बदलाव उस भाषा के भाव, आकार व उच्चारण को मृतप्राय: कर देता है, शिक्षित व भाषा वैज्ञानिक को भी वहाँ अशिक्षित व गूँगा बना देता है। ज्ञात और अज्ञात की इस कल्पना में भाषा वैज्ञानिक या शिक्षित भी बस अपनी ज्ञात भाषा में यही कहता है 'भगवान जाने', 'अल्लाह जानता है', 'गॉड ओनली नोज' का प्रयोग कर अज्ञानता का इति प्राप्त कर लेता है। ईसा पूर्व सभी देश अपने देवता को ही लिपि का आधार मान उनके नाम पर ही लिपि का नाम रखते रहे हैं; जैसे-

भारत - ब्राह्मी - ब्रह्म
अरब - अरबी - अल्लाह
मिश्र - हीरोग्लिफ्स - थॉठ
चीन - चीनी - वेनचाँग आदि

प्राचीन लिपियों के रहस्य खोजने का काम अठारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ। कई कठिनाइयों के बाद कई भूभाग अपनी-अपनी लिपि व भाषा की उत्पत्ति को स्वीकार्य कर सके। वह भी तब, जब विश्व के अधिकतर भू-भाग पर इंग्लेंड का आधिपत्य था और उसका स्वप्न एक लिपि एक भाषा था। विद्वानों की खोज बताती है कि 'हीरोग्लिफ्स' मिश्र की लिपि ई.पू. २८वीं शताब्दी, कीलाकार (२५वीं सदी ई.पू.), चीनी (१८वीं सदी ई.पू.), उत्तर सेमिटिक (12वीं सदी ई.पू.), ग्रीक (11वीं सदी ई.पू.) हेब्रू... (१३वीं सदी ई.पू.), ब्राह्मी (४थी सदी ई.पू.), अरबी (आदिकाल) आदि हुई। लिपियाँ चित्रों, रेखाओं, गाँठों, सांकेतिक ध्वनियुक्त होते-होते शब्दों के विकास पर आई जहाँ चौबीस व्यंजन अक्षरवाली लिपि का विकास मिश्र में ई.पू. १८वीं शताब्दी में हुआ। इसमें स्वर नहीं थे; न ही अन्य पड़ोसी देशों ने इसे अपनाया; परंतु उत्तर सेमिटिक लिपि ने इतनी सफलता पाई, जो मिश्र का पड़ोसी देश फिनीशिया था कि आज भी भारत, चीन, जापान आदि को छोड़कर प्राय: सभी देश व थोड़ा बहुत रूप परिवर्तित कर अपना चुके हैं। इसमें २२ व्यंजन हैं। इसमें स्वर न होने के कारण एक ही अक्षर भिन्न-भिन्न ध्वनियों व उच्चारण लेकर आता था।

याद रहे- लिपियों की खोज व विकास का निर्धारण ही मानव विकास कर वाक्यों व भावों का विकास कर सकता है। समझना होगा कि परिवर्तन जलवायु का हो, प्रकृति का हो, अपने गर्भ में जलजलों के साथ भूकंप के साथ, बाढ़ के साथ, ज्वालामुखी के साथ विकसित सभ्यता उनके चिंतन, उनकी लिपि उनके द्वारा विकसित आकार ले लेता है। ये वस्तुएँ जमीन की गहराई में हजारों वर्ष दबी रह जाए तो वे अधिकतर अपना स्थान बनाकर स्वयं नष्ट हो जाती है, पत्थर की तरह सख्त हो जाती हैं। फिर जब इनकी खोज होती है तो पर्याप्त प्रमाण न मिलने के कारण अनुमानों के 'स्व' के पहाड़ खड़े किए जाते हैं जो स्वतंत्र, एकरूप या समविचार लिए नहीं होते; बल्कि अपने-अपने राष्ट्रीय, धार्मिक व सामाजिक विचारों की गढ़ी गई या लिखित पुस्तकों की

धारणाओं व मान्यताओं पर आधारित होते हैं; जो 'भगवान जाने' के सिद्धांत पर नहीं, बल्कि स्थापित भगवान के कपोल-कल्पित प्रमाणरहित मान्यताओं पर थोप दिए जाते हैं; जो अधिकतर कट्टरता का ही आवरण ओढ़े होते हैं या उदारपंथी विचारों के मिश्रण का आधार लिए होते हैं। यही कारण है कि यहाँ एकमत होने की संभावना नहीं के बराबर होती है। फिर एकता की भाषा का स्वप्न तो दूर ही समझना चाहिए।

भारत की लिपियाँ व ग्रंथ आज भी प्रामाणिकता के अभाव में केवल अनुमानों के आधार पर एकमत व सर्वमान्य होने की कल्पना करते हैं जो शंकाओं का निर्माण कर सकता है और समाधान का क्षितिज-एक काल्पनिक वायुमण्डल प्रदान करता है। विद्वानों का मत है कि वेद, पुराण, आरण्यक, उपनिषद, रामायण, महाभारत गीता जैसे दार्शनिक ग्रंथ संस्कृत में लिपिबद्ध तो हैं; परंतु लिपिबद्ध होने के पहले कब और कैसे सँजोयी गयी कौन-सी लिपि, कौन-सी भाषा में; इसके प्रमाण नहीं है। इतने विस्तारित ग्रंथों को कंठस्थ कर पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। इसे संभव है वृक्षों की छालों, पशुओं की खालों, भोज व ताड़ पत्रों पर लिपिबद्ध कर सुरक्षित रखा गया हो; परंतु इनका प्रमाण नहीं मिलता। इसलिए उत्सुकता बनी हुई है जो विद्वांनों के लिए खुला आमंत्रण देती है। १५०० ई.पू. से ४०० ई.पू. तक भारत की लिपि का इतिहास सिंधुघाटीलिपि का अंत तथा सिकंदर के साथ आये यूनानियों से ब्राह्मी लिपि का जन्म भारत में हुआ जो यूनानी तथा फिनीशिया की लिपियों के मिश्रण से बनी और अशोक के अपने विद्वानों से एक प्रयोगात्मक राष्ट्रीय लिपि का आधार ले भारत में स्थापित हुई। खैर, जो भी हो। इनकी खोज के इतिहास गढ़ने के साथ हमें अशोक के सिद्धांत पर एक अंतरराष्ट्रीय लिपि का आधार बना ११०० साल का शून्य काल खंड जिसके बाद नवीन लिपि का आरंभ होता है। यह काल अंधकारमय है। भाषा की एकता का विकास करना चाहिए वरना कट्टरता स्थायित्व प्राप्त करेगी तो सिंधु घाटी की सभ्यता का अंत या परिवर्तन का फलक खुला रह जाएगा। किसी अन्य लेख में नागरी लिपि तक का सफर तय करेंगे...।

संपर्क : सी ००४/१०४, उत्कर्ष अनुराधा,
सिविल लाईस, नागपुर ४४०००१ (महाराष्ट्र)
मो. ९१९५६१७७५३८४

''कोई भी देश सच्चे अर्थों में तब तक स्वतंत्र नहीं है जब तक वह अपनी भाषा में नहीं बोलता। भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जनसमूह सहज में ही समझ ले। यदि भारत को राष्ट्र बनना है तो चाहे कोई माने या न माने राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही बन सकती है। राष्ट्रीय व्यवहार में हिन्दी को काम में लाना देश की एकता और उन्नति के लिए आवश्यक है। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा की हिमायत करने वाले जनता के दुश्मन हैं।'' -महात्मा गाँधी, सभापति-अष्टम अधिवेशन, इन्दौर, सं.१९७४

प्रेमलता नीलम

महाप्रभु प्राणनाथ और महाराजा छत्रसाल

मुगल बादशाह औरंगजेब के शासन काल में कट्टरपंथी मुसलमान मौलवियों के बहकावे में बादशाह औरंगजेब ने इस्लामीकरण की वह बर्बर नीति अपनाई जिससे भारत वर्ष में हिन्दू जाति में हाहाकार मच गया।

हिन्दू मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बनाई गई, धर्मस्थल तोड़े -फोड़े गए, देव मूर्तियाँ नष्ट और खंण्डित की गई तथा सदियों से मिल-जुल कर रहने वाले हिन्दु और मुसलमान एक दूसरे की जान के दुश्मन बन गये। मजहब के नाम पर बलपूर्वक धर्म परितर्वन की अमानवीय गतिविधियों से हिन्दु जाति त्राहि-त्राहि कर उठी। जो विरोध में खड़े हुए उनके सर कलम कर दिए गये और सम्पूर्ण देश में मार-काट मच गई। कोई ऐसा शासक या राजा नहीं था जो इन अत्याचारों को रोक सके। ऐसे भीषण काल में गुजरात सौराष्ट्र के अंतर्गत जामनगर की पुण्य धरती जाम राज्य के प्रधान आमात्य सूर्यवंशी क्षत्री श्री केशव जी ठाकुर, माता धन बाई जो भक्ति भावना की प्रत्यक्ष मूर्ति थी, के यहाँ वि.सं. १६७५ आश्विन कृष्ण पक्ष चतुर्दशी के प्रथम प्रहर के शुभ मुहूर्त में स्वामी प्राणनाथ जी जन्मे।

श्री महाप्रभु प्राणनाथ जन्म से ही तेज और अलौकिक प्रतिभा से अनुप्राणित थे। विप्रो ने श्री महाप्रभु का नामकरण मेहराज (महिरराज) उल्लेखित किया। पिता का वात्सल्य, माता की ममता, भ्राताओं के पारस्परिक अनन्य प्रेम और राजसी वैभव के बीच श्री मिहिर राज (मेहराज श्री प्राणनाथ) जी के बचपन ने ज्यों - ज्यो चरण जीवन पथ पर आगे बढ़ाये, उनका दिव्य स्वरूप दिन-प्रतिदिन नवीन अलौकिक संस्कारों के साथ उदित होने लगा। और शिक्षा, कुलोचित उनके अंदर उठते हुए सुविचार, आहिस्ता - आहिस्ता चहुँ ओर प्रदीप्त होने लगे। मिहिर का अर्थ होता है- सूर्य। उस पापाचार के अंधकार में सूर्य की तरह ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले श्री मिहिराज (मेहराज) ही कालांत्तर में महामति श्री श्री १०८ श्री प्राणनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। तत्कालीन प्रख्यात संत निजानंद सद्गुरु (श्री देयोचंद जी महाराज द्वारा संस्थापित निजानंद सम्प्रदाय की धर्मपीठ श्री नवतनपुरी में संवत १६८७ अगहन शुक्ल नौवीं को श्री मेहराज (मिहिर राज) का दीक्षा समारोह मनाया गया। इस प्रकार गुरु से दीक्षित होकर श्री निजानद स्वामी जी की परम आध्यात्मिक जन कल्याण कारिणी संस्था से सम्बद्ध हुये। यह भी कहा जाता है कि अपने सद्गुरु जी की आज्ञा से उन्होंने अरब

यात्रा की और निजानंद सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार किया।

क्षर -अक्षर से अक्षरातीत परम सत्य की खोज में साधना - पथ पर विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए श्री महाप्रभु प्राणनाथ जी ने मध्य प्रदेश के गौड़वाना एवं तत्पश्चात बुन्देखण्ड में पदार्पण किया। बुन्देलखण्ड के वीर योद्धा छत्रसाल जी से ऐतिहासिक मिलन वि.स. १७३९ माघ शुक्ल पूर्णिमा को हुआ। छत्रसाल जी का महाप्रभु प्राणनाथ जी से यह अद्वितीय मिलन का समय था। ऐसा अवसर बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है। जैसी अलौकिक शक्ति महाप्रभु से वीर पुरुष महाराज छत्रसाल जी को प्राप्त हुई। इस अलौकिक भेंट से छत्रसाल जी के हृदय में आध्यात्मिक शक्ति का विकास हुआ तथा छत्रसाल जी के कोमल एवं ओजपूर्ण हृदय पर महाप्रभु प्राणनाथ के उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा। महाप्रभु के हृदय मे अखिल विश्व के कल्याण की भावना का प्रसार निरंतर हो रहा था। महाप्रभु प्राणनाथ प्राणिमात्र को आत्मीयता की दिव्य श्रृंखला में बांधकर अनंत सुख और शांति प्रदान करना चाहते थे।

औरगंजेब की विषमता पूर्ण दुर्नीति ने हृदय पर गहरा आघात कर दिया था। एकांकी धर्म की आड़ में पावन धार्मिक स्वरूप विकृत कर हिन्दु मानव जाति को एक दूसरे से अलग कर दिया। यही एक मुख्य कारण था, जिसने छत्रसाल को महाप्रभु प्राणनाथ जी के अति निकट आने का संयोग ईश्वर ने जोड़ा। इन्हीं परिस्थितियों ने प्राणनाथ जी से छत्रसाल जी को मिलाया। सनातन से प्रचलित भारतीय हिन्दू धर्म के अस्थि पंजर को खोखला कर दिया गया था। विदेशी धर्म के इस विकराल रूप ने चहुँ ओर अमानवीय कुरीतिपूर्ण व्यवहार के पंख फैलाकर हिन्दू मानव कल्याण की समस्त कोमल भावनायें लुप्त होती जा रही थी। इसलिए महाप्रभु प्राणनाथ जी ने सार्वभौमिक भारतीय धर्म की रक्षा हेतु सम्पूर्ण देश में सर्वव्यापी यात्राएँ प्रारंभ कीं। देश के प्रत्येक मानव को धर्म की रक्षार्थ सचेत किया; प्रत्येक मानव के हृदय में उत्साह, उमंग, हर्ष की लहर प्रवाहित की; और सभी जनमानस प्राणनाथ जी के बतलाये हुए पद चिन्हों पर अग्रसर हुये। प्राणनाथ जी ने देश के प्रसिद्ध राजा महाराजाओं को हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु आमंत्रित किया और तत्कालीन क्षत्रियों को उत्साहित प्रोत्साहित किया।

महाप्रभु प्राणनाथ ने देखा कि भारतीय धर्म की नाव अभारतीयों के दल -दल में धँसती जा रही थी। उन्होंने वेद शास्त्रों के विद्वानों को एवं सिद्धहस्त उच्च कोटि के साधकों, वैभव सम्पन्न मठाधीशों को शैव-वैष्णव आचार्यो को संगठित किया और एकता की भावना भर देश में हो रहे हिन्दू धर्म ,हिन्दू संस्कृति के दमन की रक्षा की। इसके साथ हिन्दू जनता वन-वन पहाड़ों और गुफाओं में अपने प्राणों की रक्षा कर रही थी। महाप्रभु प्राणनाथ जी ने हिन्दु और मुसलमान के कृत्रिम रूप को महत्व न देकर देश और जाति में व्याप्त भयंकर बंधनों को तोड़-मड़ोर कर मानव समाज के कल्याण के लिए सर्व-धर्म की स्थापना की। सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय की भावना, सार्वभौमिक धर्म के प्रमुख सिद्धातों को जनमानस तक पहुँचाने के लिए एवं औरंगजेब की धर्म विध्वसंक कूटनीति का दमन करने के लिए दृढ़ संकल्प लेकर आगे बढ़े। उन्होंने महाराजा छत्रसाल जी को अपनी आध्यात्मिक शांति का केन्द्र बनाया जिससे हिन्दू धर्म की रक्षार्थ सफल हुए। छत्रसाल जी ने महाप्रभु प्राणनाथ जी से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की थी।

शेर अफगान औरगंजेब का एक बहादुर फौजदार था। इसने मौका पाकर छत्रसाल के मुख्य सैनिक अड्डे पर आक्रमण किया। ऐसे भीषण समय में छत्रसाल जी को सर्वदा विजय प्राप्ति के लिए महाप्रभु प्राणनाथ जी ने अपने दिव्य ज्ञान और आध्यात्मिक दिव्य शक्ति का प्रतीक बीजक प्रदान किया। महाराज छत्रसाल जी की तलवार अपने हाथ में लेकर उस पर ''मेहर'' की नजर कर दी, और उसे देते हुए कहा, ''छत्ता! जब तक यह तलवार तुम्हारे पास रहेगी, तब तक कभी भी तुम्हारी हार नहीं होगी। तुम युद्ध में निश्चिन्त होकर जाओ। महाराज छत्रसाल जी महाप्रभु प्राणनाथ जी का परम आध्यात्मिक

सान्निध्य पाकर धन्य हो गये, सदैव विजयी हुए और युद्ध क्षेत्र में शोर्य शक्ति से निरंत्तर देश में विजय पताका फहरायी।

बुन्देलखण्ड केसरी महाराजा छत्रसाल जू देव, महाप्रभु प्राणनाथ जी के परम शिष्य प्रसिद्ध हुए। आशीर्वाद स्वरूप यह दोहा बहुत ही चर्चित है—

''छत्ता तेरे राज में, धक - धक धरती होय।
जित-जित घोड़ा मुख करै,तित-तित फत्ते होय।।''

प्यार से छत्रसाल जी को ''छत्ता'' भी कहते थे, ऐसा वर्णित भी है। छत्रसाल जी ने लोक मर्यादा का पालन करते हुए ''मऊ'' में शुभ महूर्त निकलवा कर विधि विधान से प्राणनाथ जी से ''मत्तार तम्य - मंत्र'' की दीक्षा ग्रहण की। तब अनन्य प्रेम भाव विभोर हुए और बारम्बार स्तुति की। पूर्ण सच्चिदानंदघन ब्रह्म रूप महाप्रभु प्राणनाथ जी को पावन सद्गुरु के रूप में पाकर दक्षिणा देते समय महाराजा छत्रसाल जी भाव विभोर हुये और उन्होंने काव्यात्मक अभिव्यक्ति में यह कहा -

''यह टीका यही पॉवडो, यही निछावर आय।
प्राणनाथ के चरण पर, छत्ता बलि-बलि जाय।।''

गुरु शिष्य परम्परा का साक्षात् स्वरूप आज के गुरु एवं शिष्यों के लिए प्रेरणादायक है। एक दिन छत्रसाल जी के मन में आया कि महाप्रभु प्राणनाथ जी ने मुझे इतना दिया किन्तु प्राणनाथ जी के अनुयायियों के संगठन ''सुन्दर साथ'' की सेवार्थ मैंने कुछ भी नहीं दिया। छत्रसाल जी शाम के समय महाप्रभु जी के पास निश्चित दिन सुबह निश्चित समय पर पहुँच गए प्रिय घोड़ा 'भले भाई' के साथ। श्री महाप्रभु प्राणनाथ जी ने आदेश दिया- तुम अपने घोड़े पर सवार होकर सूर्यास्त से पहिले ही जहाँ तक घोड़ा दौड़ा सकते हो, दौड़ाओ और पुनः मेरे पास आओ। छत्रसाल जी ने आदेश का पालन किया और वापिस आये, तब श्री जी मुस्कुराये और कहा कि ''छत्ता तेरा घोड़ा जितनी धरती तक दौड़ा है, वहाँ तक की धरती हीरा उगलती रहेगी। यह हीरा तभी तक पूर्ण रूप से निकलेगा जब तक तुम्हारे वंशज एक अक्षरातीत पर निष्ठा रखेंगे। छत्रसाल जी ने कहा- धाम धनी! यह मेरी सेवा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि सेना सजाऊँ आपको हाथी पर सर्वेश्वर के रूप में बैठाऊँ और मैं सेनापति के रूप में चलूँ। श्री महाप्रभु जी ने यह इच्छा छत्रसाल जी की पूर्ण की। बुन्देलखण्ड पर औरंगजेब ने सबसे अधिक आक्रमण किया लेकिन श्री महाप्रभु प्राणनाथ की कृपा से वह बार-बार हारता ही चला गया। अंत में औरंगजेब को हार मानना पड़ी; और उसने अपने पुत्रों को सावधान किया। इस प्रकार छत्रसाल जी ने बावन लड़ाईयाँ लड़ीं। सभी में अजेय रहे। महाप्रभु प्राणनाथ जी का वरदहस्त उन्हें इस प्रकार था कि किसी भी शत्रु से पराजय नहीं मिली। श्री १०८ प्राणनाथ जी मंदिर जो श्री पद्मावतीपुरी धाम के नाम से पन्ना म.प्र. में स्थित है, वहाँ के महत्व को दर्शाते हुए कवि.... दुष्यन्त'' ने लिखा है -

''प्रभु की परम बिहार भूमि के, तुम्हें कोटि परनाम करूँ।
परम दिव्य के पीठ मनोहर, पुरी कहूँ या धाम कहूँ।।''

बुन्देलखण्ड के लौह वीर पुरुष महाराजा छत्रसाल ने प्राणनाथ जी के परम आध्यात्मिक प्रवचनों को सुनकर उनके सर्वधर्म समन्वयवादी सिद्धातों का प्रसार करने का दृढ़ संकल्प लिया और आध्यात्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक धरातल पर हिन्दुधर्म की रक्षा की। इस प्रकार से छत्रसाल के राज्य का निरंत्तर विस्तार हुआ। धन-धान्य से समृद्ध राज्य उत्तर प्रदेश यमुना तट कालपी से दक्षिण सिरोंज और सागर तक पश्चिम में ओरछा, ग्वालियर की सीमाओं से लेकर बघेलखण्ड के मैहर और वीरसिंहपुर के इलाके तक मुगलों को परास्त कर बुन्देलखण्ड का विकास चहुँ ओर हुआ। बुन्देलखण्ड की वीर भूमि पर यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है-'' इत जमुना उत नरबदा, इत चम्बल उत टौंस।
छत्रसाल सौ लरन की, रही न काहू हौंस॥''

प्राणनाथ जी की असीमकृपा से बुन्देलखण्ड आर्थिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक दृष्टि से उत्कृष्ट रहा और आज भी विकास की ओर अग्रसर है और रहेगा।

महाप्रभु के आध्यात्म, पद्यात्मक काव्य ग्रंथ १७ प्रकाशित हुए हैं। गुजराती भाषा-भाषी होते हुए हिन्दी राष्ट्रभाषा के अतिरिक्त संस्कृत, जाटी, अरबी, फारसी आदि विविध भाषाओं में आध्यात्म जन हिताय, हिन्दू धर्म रक्षार्थ उनकी अभिव्यक्ति संकलित है। हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में उनके जो विचार थे वे महान् क्रांतिकारी और नितांत मौलिक थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—

''सबको प्यारी अपनी, जो है कुल की भाख।
अब मै कहूँ भाषा किनकी, या में तो भाषा लाख।।
बोली जुदी सबन की, और सबका जुदा चलन,
सब उरझे नाम जुदे घर पर मेरे तो कहना सबन।।''

उन्होंने मध्ययुग में भी हिन्दवी यानी हिन्दुस्तानी भाषा के नाम हिन्दी का पूर्ण समर्थन किया। महाप्रभु प्राणनाथ जी ने लिखा है -

''बिना हिसाबे बोलियाँ, मिले सकल जहान,
सबको सुगम जानके, कहूँगा हिन्दोस्तान।
बड़ी भाष ये ही भली, जो सब में जाहेर
करन पाक सबन को अन्तर माहें बाहेर।''

इस प्रकार महाप्रभु प्राणनाथ जी ने काव्य अभि-व्यक्ति के माध्यम से हिन्दी भाषा को मध्ययुग में राष्ट्रीय रूप प्रदान किया। इसके साथ ही बुन्देलखण्ड को शत्रुओं से छुटकारा दिलाया, निरंतर विकास की ओर अग्रसर किया।

महाप्रभु प्राणनाथ जी आध्यात्मक मनोभावों की सरिता पर विश्वास रखते। वे बाह्य दिखावा की भीड़ पर तनिक भरोसा नहीं करते थे। सभी 'सुन्दर साथ' जी को उपदेश देकर समझा रहे थे। श्री जी की ब्रह्मवाणी की अमृतधारा पन्ना में प्रवाहित हो रही थी। हजारों 'सुन्दर साथ' उस अखण्ड रस में डूबकर स्वयं को कृतार्थ मानते थे। उनके लिए संसार के सभी सुख नश्वर थे। महाराजा छत्रसाल जी राज्य व्यवस्था सँभालने के साथ-साथ आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ थे। श्री जी की पल -पल खबर रखते। यह एहसास श्री जी स्वयं उन्हें कराते थे। सावन माह कृष्णपक्ष तृतीया श्री जी मौन धारण कर समधिस्थ हुए। सभी 'सुन्दरसाथ' उदास मन लेकर चुपचाप बैठ गए और श्री जी गहन समाधि में चले गए।

छत्रसाल जी को जैसे ही अन्त: करण की प्रेरणा से आभास हुआ, वे तुरन्त घोड़े 'भले भाई' पर सवार होकर चल दिए। उसी समय केन नदी में भयंकर बाढ़ आयी हुई थी। अपने प्रियतम प्राणनाथ जी से मिलने की इच्छारूपी ज्वाला ने उन्हें अधीर कर दिया। घोड़े सहित केन नदी में छलांग लगा दी। सकुशल नदी के बाहर किनारे पर आ गए। पन्ना आते ही चारों ओर उन्हें 'सुन्दरसाथ' रोते- बिलखते दिखाई दिए। सिंहासन पर श्री जी की जगह श्री मुखवाणी को स्थापित किया गया। यह देखकर छत्रसाल जी मन ही मन काँप उठे और अपना अन्त करने के लिए ज्यों ही तलवार निकालते हैं, हँसते हुए श्री जी ने छत्रसाल जी का हाथ पकड़ लिया; बोले '' छत्ता। क्या तूने केवल मेरे तन को ही प्राणनाथ समझा था। यह देख, केन नदी में जब तुम्हारा घोड़ा डूब रहा था, मैंने ही उसे बचाया था। तुम्हारे घोड़े के पाँव के निशान अब भी मेरी पीठ पर हैं। मै तो अब गहन समाधि में जा रहा हूँ। यह न समझना कि मैं तुमसे अलग हो गया हूँ-

''कर अम्बुज से असि पकड़कर, बोले बानी मधुर ललाम।
छत्रसाल मरने से पहले,जग में तो कुछ कर लो काम।।
बैठा है साथ तुम्हारा, जिसमें दोनो कुल परिवार ,
बिखरे हुए देश, देशो में, उनका करना तुम्हें विचार।

इसके बाद महाप्रभु प्राणनाथ जी पुन: समाधिस्थ हो गये। जिनके हृदय में अटूट आस - विश्वास है, विरह की रस धारा है, प्रेम की प्यास है, उनके आसपास प्राणनाथ जी आज भी वैसे ही हैं, जैसे पहिले थे; शाश्वत प्रेम, शान्ति और आनन्द के लिये। श्री प्राणनाथ जी के चरणों में जाने के अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नहीं है,

''नान्य: पन्था विद्यते अयनाय।''

संपर्क : काव्यकुंज,एलोरा कालोनी, दमोह(म.प्र.)
मो. ९४२५४०६०१७

अनिल कुमार पाण्डेय

समकालीन हिन्दी नवगीत में पर्यावरण चिंतन

जीवन जीने के लिए यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हम अपने परिवेश से अधिक से अधिक जुड़ें हों, उनमें निहित समस्याओं से रूबरू होने की स्थिति में हों और उन प्रश्नों के निराकरण के लिए हर समय स्वयं को व्यस्तता जैसे माहौल में घिरे हुए पाते हों। उक्त परिवेश में रहते हुए जितना आवश्यक हमारा अपनी जरूरत की चीजों की उपलब्धता को बनाए रखने की हो उससे कहीं अधिक आवश्यकता इस बात की हो कि हम निर्जन वातावरण में फैली और लगभग बिखरी हुई मानवीय संभावनाओं की तलाश के लिए यत्नशील हों। इसके लिए जनमानस के संवेदनात्मक धरातल की पहचान आवश्यक हो जाती है; और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है आस-पास विद्यमान प्रश्नों से टकराने की इच्छा और आदत को बनाए रखना।

काव्य साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा हिंदी नवगीत ने जनमानस के संवेदनात्मक धरातल को अधिक तवज्जो दी है। वर्तमान समस्याओं के केन्द्र में निहित संभावनाओं की बात की जाए तो आजादी के बाद से लेकर आज तक, यथार्थ की भयावहता को परिभाषित करते हुए समय-समाज को व्याख्यायित करने का बड़ा प्रयास नवगीत के माध्यम से फलीभूत हुआ है। आज के इस उत्तर-आधुनिक समय में जब सभी परिभाषाएँ अपनी अर्थवत्ता खोती हुई नजर आ रही हैं, नवगीत के माध्यम से रचनाकारों ने शब्दों को नयी पहचान दी है; और अर्थों की सम्प्रेषणीयता को बरक़रार रखते हुए जन-जीवन की मन:स्थिति में जागरूकता की स्थिति को समृद्ध किया है।

इस बात को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होनी चाहिए कि जीवन-प्रक्रिया को समृद्ध करने वाले जितने भी सामाजिक एवं मानवीय अवयव रहे हैं उनके सन्दर्भ में आज के नवगीतकार ने मुखर होकर अपनी अभिव्यक्ति दी है। यह सहजत: स्वीकार किया जा सकता है कि आज 'नवगीतकार की आँखों में समस्त विश्व है, उसके तकाजे हैं; युगीन समस्याएँ तथा उन समस्याओं के आर-पार झाँकने वाली दृष्टि है। वह वैश्वीकरण से लेकर गाँवों की चौपाल तक की सारी जानकारी रखता है। समाज, राजनीति, भूमंडलीकरण, प्रकृति, प्रेम, पारिवारिक ताप और संताप, संत्रास, कुण्ठा, भय, घुटन के साथ-साथ मानवीय जिजीविषा, संघर्षशीलता, आस्था तथा अदम्य साहस उनके नवगीतों के रोये-रेशों में प्राण तत्त्व बनकर रहता है।'

मानवीय स्वभाव की बात करें तो आज समस्याओं की अनदेखी करना जैसे हमारी नियति-सी हो गयी है। अपने समय के प्रश्नों से टकराने की जो स्वाभाविक स्थिति हममें होनी चाहिए वह जैसे विकसित ही नहीं हो पा रही है। हम जितने अधिक समृद्ध हो रहे हैं, व्यवहार में उसके

कहीं अधिक खोखले और निष्प्राण होते जा रहे हैं; इतने कि, आँखों के सामने से ही बहुत कुछ परिवर्तित होता और हमारे अस्तित्वि को चुनौती देता बढ़ा चला जा रहा है और हम, कुछ करना तो दूर हाथ-पैर मारना भी मुनासिब नहीं समझते। हर एक स्थिति को संकीर्ण मनोवृत्ति में परखने और व्यक्तिगत स्वार्थता के केन्द्र में उपयोग करने के अभ्यस्त जरूर हुए हैं। यही वजह है कि समय की संकीर्णता और स्वार्थता के आवरण में जीवन के बहुत से प्रश्न ऐसे होते हैं जिन्हें हम अनदेखा करते रहते हैं। पर्यावरण का प्रश्न उन सभी प्रश्नों में से एक और सबसे अधिक आवश्यक है जिसपर चिन्तन और विमर्श की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति में नवगीतकारों की दृष्टि का महती योगदान है जिसे स्पष्ट करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि पर्यावरण कहते किसे हैं?

'मानक हिंदी कोश' के अनुसार 'पर्यावरण (सं0 परि + आवरण) किसी व्यक्ति या विषय की परिस्थिति' को कहा जाता है अर्थात् जिन विशेष परिस्थितियों में रहते हुए व्यक्ति अपना जीवन-निर्वहन करता है उसे पर्यावरण कहा जाता है।'पर्यावरण दो शब्दों परि+आवरण से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है परि-चारों तरफ, आवरण-घेरा, यानी प्रकृति में जो भी हमारे चारों ओर परिलक्षित होता है- वायु, जल, मृदा, पेड़-पौधे, प्राणी आदि-सभी प्रकार के अंग हैं और इन्हीं से पर्यावरण की रचना होती है।' इस दृष्टि से देखने का प्रयत्न करें तो सम्पूर्ण भौगोलिक संरचना पर्यावरण के दायरे में आ जाती है। भौगोलिक संरचना दो प्रकार की होती है-१. (जीवभूगोल) भौतिक, रासायनिक तथा जैविक दशाओं का योग जसकी अनुभूति किसी प्राणी या प्राणियों को होती है। इसके अंतर्गत जलवायु, मिट्टी, जल, प्रकाश वनस्पति, स्वप्रजाति एवं अन्य प्राणि जगत सम्मिलित होते हैं। पर्यावरणी दशाओं में देश, काल, दिन के समय, मौसम (ऋतु) तथा कारकों के अनुसार भिन्नता पायी जाती है। २. (मानव भूगोल) भौतिक तथा सांस्कृतिक दशाओं का सम्पूर्ण योग जो मानव के चारों ओर व्याप्त होता है और उसे प्रभावित करता है। भौतिक पर्यावरण में उच्चावच, संरचना, जलवायु, मिट्टी, वनस्पति तथा जीव-जंतु सम्मलित होते हैं। सांस्कृतिक या मानवीय पर्यावरण में समस्त मानवीय क्रियाओं, दशाओं तथा सांस्कृतिक भूदृश्यों को सम्मिलित किया जाता है।' इस तरह जैविक तथा मानवीय परिधि में आने वाले सभी प्रकार के जीव, परिवेश एवं वातावरण को पर्यावरण के नाम से जाना जाता है।

'पर्यावरण शब्द अंग्रेजी के इनवारनमेंट (Environment) शब्द का हिंदी रूपांतरण है। इनवारनमेंट के लिए कभी-कभी परिस्थिति या वातावरण शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।' 'मानविकी पारिभाषिक कोश (मनोविज्ञान खण्ड)' में environment को परिवेश के अर्थ में लेते हुए उसकी परिभाषा इस तरह दी गयी है- 'भौतिक, रासायनिक, जैव तथा सामाजिक तत्त्वों की वह समग्रता जिसमें व्यक्ति सन्निहित है, और जिसका जीवन पर विशाल प्रभाव पड़ता है। परिवेश के दो भाग हैं-जन्म के पूर्व का परिवेश और जन्म के बाद का वातावरण। जन्म के पूर्व के परिवेश के भी दो पक्ष हैं-१- बीजकोशांतरगत, जबकि व्यक्ति एक बीजकोष के रूप में ही अपनी माँ के गर्भ में रहता है और उस कोष में ही वर्तमान रासायनिक तरल का उस पर प्रभाव पड़ता है। २. अन्तर्कोषीय परिवेश - जब एक-एक बीजकोष अनेकानेक कोषों में विभक्त हो जीव का निश्चित आकार धारण करने के क्रम में होता है। इनमें से प्रत्येक कोष दूसरे कोषों से प्रभावित होता है। जन्म के उपरांत बालक नितांत भिन्न भौतिक तथा सामाजिक परिवेश में आता है। इस परिवेश की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न रूपों में उस पर अपना प्रभाव डाल उसे अपने प्रति अभियोजित करती रहती हैं। व्यक्ति बराबर इनसे संघर्ष-रत रहता है।' पर्यावरण परिवेश में व्यक्ति का आगमन उसके जन्म लेने से पूर्व हो जाता है और जीवन के अंतिम दिनों तक वह उसका एक अभिन्न हिस्सा होता है। इस तरह नवभारत टाइम्स के हवाले से कहें तो कहा जा सकता है 'हमारी धरती और इसके आसपास के कुछ हिस्सों को पर्यावरण में शामिल किया जाता है। इसमें सिर्फ मानव ही नहीं, बल्कि जीव-जंतु और पेड़-पौधे भी शामिल किए

गए हैं। यहाँ तक कि निर्जीव वस्तुओं को भी पर्यावरण का हिस्सा माना गया है। कह सकते हैं- धरती पर आप जिस किसी चीज को देखते और महसूस करते हैं, वह पर्यावरण का हिस्सा है। इसमें मानव, जीव-जंतु, पहाड़, चट्टान जैसी चीजों के अलावा हवा, पानी, ऊर्जा आदि को भी शामिल किया जाता है।' प्रकृति प्रदत्त जीवन जीने के जितने भी उपागम हैं और जिन स्थितियों, परिस्थितियों के अंतर्गत रहते हुए हम अपने शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं मानवीय स्थितियों को विकसित और समृद्ध करने के विविध प्रयोग करते रहते हैं, और जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर हम उपभोग करते हैं वे सब पर्यावरण के दायरे में आते हैं।

उपभोग करने की बढ़ती कुप्रवृत्ति का ही परिणाम है कि आज धरती पर अनावश्यक रूप से दबाव बढ़ा है। यह भी सहजत: स्वीकार करना पड़ता है कि मनुष्य ने अपने निहित स्वार्थों के वशीभूत होकर प्रकृति का अंधाधुंध दोहन किया है। इस दोहन का जो सीधा परिणाम निकल कर आया है, वह पर्यावरण का असंतुलित होना है। सम्पूर्ण संसार में असंतुलन की यह समस्या आज सबसे अधिक विचारणीय मुद्दा है। भावात्मक रूप से प्राकृतिक संसाधनों में जहाँ असंतोष के भाव दृष्टिगत हुए हैं वहीं विद्वानों एवं चिंतकों के लिए यह बेहद भयावह स्थिति के रूप में चिह्नित किया गया है।

विद्वानों की दृष्टि में यह जरूरत आए दिन महसूस की जाती रही है कि पर्यावरण जैसे गंभीर मुद्दे पर गहरे विमर्श की आवश्यकता है। उनकी चिंतन-प्रक्रिया में एक तरफ जहाँ धरती पर निवास करने वाले प्रत्येक जीव-जंतु को बचाए रखने की जरूरत वर्तमान है, वहीं दूसरी तरफ अपनी जरूरत की चीजों को प्राप्त करने की आवश्यकता भी केन्द्र में है। अत: पर्यावरण संतुलन के लिए प्रकृति और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धों के दरम्यान जागरूकता ही एक ऐसी स्थिति है जो जरूरत और उपलब्धता के मध्य संतुलन बना कर रख सकती है। प्रकृति के प्रति गहराते संकट और मानवीय अस्तित्व पर विद्यमान प्रश्न, दोनों स्थितियों को एक समान महत्त्व देना आज के नवगीतकारों ने अपनी रचनाधर्मिता का प्रमुख आधार बनाया है। इस स्थिति को स्वीकार करने में कोई गुरेज नहीं है कि 'समकालीन कवि प्रकृति के संकटपूर्ण अस्तित्व को लेकर चिंतित है।...उसकी चिंता प्रकृति को बचाने की है, मनुष्य को बचाने की है और इनके बीच शाश्वत रागात्मक सम्बन्ध को बचाने की भी।'

प्रकृति के स्वस्थ परिवेश में जीवन यापन करने के लिए स्वच्छ हवा और स्वच्छ जल की बड़ी आवश्यकता है। हवा के योग से ही जल की विद्यमानता सुनिश्चित होती है। विडंबना की स्थिति यह है कि जो स्रोत वायु को उपलब्ध करवाने के हैं, हम उनको अनवरत समाप्त करने पर तुले हैं। गाँवों में यह प्राय: देखा जाता रहा है कि वहाँ के लोग सामाजिक जीवन का सफलता पूर्वक निर्वहन के लिए 'आधी खेती और आधी बारी' पर बल दिया करते थे अर्थात आजीविका का साधन कृषि होने की वजह से उनका स्पष्ट मानना था कि आधे क्षेत्र में वे खेती करेंगे और आधे क्षेत्र में बागवानी। खेती की प्रवृत्ति में किसानों की आर्थिक बदहाली और पारिवेशिक दुर्दशा केन्द में रही लेकिन बागवानी की प्रवृत्ति दिनोंदिन लोगों में घटती गयी। नवगीतकार की यह चिंता नितांत प्रासंगिक और सोचने विवश करती है कि-

'आज आँधियों के युग में वे/कितने पेड़ बचे/ जिनके मीठे/फल से रहती/लदी झुकी डाली/जेठ दुपहरी/ छाया की जो/परसे थे थाली/आज मालियों को बाजारी/बौने पेड़ जंचे।'

यहाँ 'आज मालियों को' बड़े छायेदार घने पेड़-पौधों की जगह 'बाजारी बौने पेड़' जँचने की स्थिति का पड़ताल किया जाना आवश्यक है। बौने पेड़ के रूप में देशी पौधों के बजाय कलमी पौधों का परिचलन इन दिनों अधिक बढ़ा है जिसका उद्देश्य, छाया और स्वास्थ्यवर्धक फलों की प्राप्ति न होकर महज धन-अर्जित करना रह गया है। बड़े पेड़ों को लगाने, सींचने और पालने में लगने वाले अधिक समय की जगह छोटे पौधों को उगाकर व्यापार

करना लोग अधिक श्रेयस्कर समझ रहे हैं। यही नहीं जो वृक्ष शौक और सौंदर्य के लिए घर के सामने लगाए जाते थे उनके स्थान पर आज नागफनी आदि वृक्षों को गमले में सजाने का फैशन बढ़ा है-'बड़े घरों के ताम्र कलश में/ हँसती नागफनी/ हर मौसम में शूल चुभोती/ रहती तनी-तनी/ और काटने शेष छाँव को/ दंगे बहुत मचे।' मंजर यह है कि आए दिन हर कोई अपने परिवेश में घने वृक्षों को अपनी जरूरत के अनुसार काटने पर लगा हुआ है। परिणामत: चिलचिलाती धुप में गंतव्य स्थल तक पहुँचना असंभव सा लगने लगा है। डॉ. धनंजय सिंह के अनुसार 'धूप चिलचिलाती है/ सड़क बहुत लम्बी है/ नहीं दूर तक कोई छाँव/ और हमें नंगे ही पाँव/जाना है सपनों के गाँव।' यह कल्पना की जा सकती है कि जब सपनों के गाँव में जाने की यह नौबत है तो यथार्थ में चलने की क्या स्थिति होगी!

वृक्ष काटने की स्थिति ने रिहायसी इलाके से निकलकर जंगलों में उगने वाले पेड़ों को भी अपनी लालच का माध्यम बनाया है। कभी सड़कों के नाम पर तो कभी औद्योगिक विकास की जरूरत पर बड़े-से-बड़े वन-क्षेत्र को ऊसर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है।

'एक समय था जब भारत के विस्तृत क्षेत्रों में वनों का पर्याप्त विकास था किन्तु क्रमश: वनस्पति की कटाई में वृद्धि होती रही और आज वननाशन या वनोंन्मूलन भारत की एक प्रमुख पर्यावरणीय समस्या बन गयी है। वनस्पति विनाश न केवल पादप परिस्थितिक क्रम को प्रभावित करती है अपितु इसके प्रभाव से सम्पूर्ण पारिस्थितिकीय-तन्त्र असंतुलित होता जा रहा है।' नवगीतकार अजय पाठक की मानें तो-

'जंगल पर संकट है भारी/इन हालातों में लगता है/ मिट जायेगी धरा हमारी/क्षण भर के स्वारथ के चलते/खेल रहे जीवन से/भूल गये कि हमने सब कुछ/पाया केवल वन से/वृक्ष नहीं अपनी छाती पर/चला रहे हम आरी.../हरे-भरे थे पेड़ जहाँ पर/घना-घना था जंग/उजड़ी गुल्म-लतायें सारी/अब लगता है मरुथल/महँगी साबित होने को है/यह सब गहरी भूल हमारी।'

कवि यदि इस भूल को गहरी भूल कहता है तो इसके 'महँगी साबित होने को' लेकर संभावनाएँ इसलिए भी बढ़ जाती हैं क्योंकि आज औद्योगिकीकरण की बढ़ती माँग वृक्षों की कटाई से पूरी की जा रही है। प्रतिदिन होने वाले वैज्ञानिक अविष्कारों के लिए भी बलि के केंद्र में यही वृक्ष होते हैं। इसके भयानक परिणाम हम सबके सामने हैं। धरती पर जल का संकट वृक्षों के अभाव से ही गहराया है। नवगीतकार इक्कीसवीं सदी के आज के मनुष्य को जैसे याद दिलाना चाहता है-'तुम्हें रहीम का दोहा/ शायद/ याद अभी तक होगा/ बिन पानी/ संसार अधूरा/ सूना-सूना होगा' कवि रहीम के इस सूत्र-वाक्य का प्रभाव मानवीय समाज में आज स्पष्ट दिखाई दे रहा है। सम्पूर्ण संसार जल के अभाव से जूझ रहा है। समय पर बारिस होना जैसे गुजरे जमाने की बात हो चली है। मानसून अनियमित हो चला है। यदि हमारी नियति पर्यावरण के प्रति और प्रकृति प्रदत्त उपहारों के प्रति ऐसे ही बनी रही तो 'कहाँ जल गीत गायेंगे/ यदि न चेते तो/ हर दिन बीत जायेंगे/ नहीं घन मीत आयेंगे/ हो रहे हैं छेद/ नभ ओजोन पर्तों में/ छिप रहे नाराज/ बादल श्याम गर्तों में/ ये पपीहे/ फिर कहाँ जल-गीत गायेंगे/ आज जड़े जंगम/ मरे प्यासे बिना जल के/ हो रहे कंकाल/ तरुवर भी बिना फल के/ फिर नदी तक/ छाँव के बन याद आयेंगे।' दिन याद करने के लिए भी यदि किसी की उपलब्धता संभव हो सके तो यह भी बड़ी बात होगी।

जल के लिए अभी हम एकदम से जागरूक होने की स्थिति अपनाने लगे हैं। यह स्थिति एकाएक जागे भूखे शेर के मानिंद है जिसने युद्ध जैसी स्थिति पर लाकर हमें खड़ा कर दिया है। हम एक दूसरे के विरुद्ध षड्यंत्र-जाल बिछाने लगे हैं। पानी की खातिर मरने और मारने तक की स्थिति में आ गए हैं। माधव कौशिक की मानें तो 'किसे पता था/ अपना यह युग/ इतना शातिर होगा/ अगला विश्व-युद्ध/ कहते हैं/ जल की खातिर होगा/ रोटी देना बात दूर की/ दे न सके हम पानी।' पानी की आवश्यकता सबको है। नहरों और बाँधों को आजाद न छोड़कर अपने दायरे में सीमित करने के प्रयत्न प्रारंभ हो चुके हैं। जो स्थाई विकल्प

कभी हमारे यहाँ हुआ करते थे, आज हम विभिन्न जरूरतों के दरम्यान उन्हें गन्दा करने पर तुले हुए हैं। नदियों की जो स्थिति आज है उसकी परिकल्पना भी कभी किसी ने नहीं की होगी। डॉ. जयशंकर शुक्ल की दृष्टि में 'कुंद हुई धारा के कारण/ नदी सिसकती है/ अपशिष्टों की मलधारा से/ पीड़ित सड़ती है/ शीतलता को भूल, छार से/ तिल-तिल जलती है।'

समस्त परिवेश को धन-धान्य से परिपूर्ण करने वाली गंगा आज अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही है। दुनिया भर के अपशिष्टों के कब्रगाह के रूप में उसका प्रयोग देश के लोग खूब कर रहे हैं। इस एक सच्चाई से बिलकुल इनकार नहीं किया जा सकता कि हम झूठी आस्थाओं के आवरण में 'डाल रहे/ अपना गंदापन/ उसकी उजली चादर पर/ बाँध रहे हैं लोग/ धार को/ क्या बीतेगी सागर पर/ बिना तुम्हारे/ भक्ति कहाँ/ विश्राम करेगी गंगा जी।' यदि आस्था के आवरण में भी नदियों को पूजने की स्थिति प्रारंभ हो जाए तो यह भी पर्यावरण संरक्षण के लिए बहुत बड़ी बात होगी।

ज्ञातव्य है कि 'यह पर्यावरण स्थल, जल और वायु से बना है। धरती की ऊपरी सतह जहाँ मिट्टी है, वह स्थलमण्डल, जहाँ जल है वह जलमण्डल तथा जहाँ वायु है वह वायुमण्डल कहलाता है। स्थलमण्डल पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, पहाड़ इत्यादि हैं। जलमंडल में भी जीव-जन्तु पेड़-पौधे होते हैं। वायुमंडल में कई गैसों का सम्मिश्रण है। इतना ही नहीं वायुमण्डल तथा स्थलमण्डल की बहुत नीचे तक गहराई में भी जीव पाया जाता है। तीनों मण्डल में जब तक साम्य स्थापित रहता है तब तक पर्यावरण में संतुलन रहता है। लेकिन जैसे ही तीनों के बीच असंतुलन होता है तभी पर्यावरण अस्त-व्यस्त होता है। ऐसा प्रदूषण के कारण होता है।' कहना अनावश्यक नहीं है कि 'नित नये उद्योगों की स्थापना, वृक्षों की अंधाधुंध कटाई और आधुनिकता की दौड़ में नित नए वाहनों का निर्माण जहाँ एक तरफ वायुमंडलीय वातावरण को क्षति पहुँचा रही है वहीं सम्पूर्ण भूमण्डल को भी क्षतिग्रस्त कर रही है। ग्लोबल वार्मिंग, अम्लीय वर्षा और ओजोन-परतों में क्षिद्र तथा पारिस्थितिकीय असंतुलन इन्हीं प्राकृतिक दोहनों की उपज है।' इस उपज से पैदा हुई विसंगतियों को झेलने में धरती पर निवास करने वाले जीवों व मनुष्य को किस तरह भुगतना और झेलना पड़ रहा है, वह नवगीतकार शैलेन्द्र शर्मा के इस गीत से समझा जा सकता है- 'तपी धरा से उठे बगूले दिशाहीन होकर मरुथल में/ कोई हिरन राह ज्यों भूले/ सन्नाटे ढोते लियारे/ ऐसी प्रखर धूप की बाती/ जिसकी ज्वाला सहते-सहते/ दरक उठी ताल की छाती/ धरती लहू-लुहान हुई है

कुछ कहते पलाश हैं फूले। कोई पंख ना फड़के सूखा पत्ता ही बस खड़के/ इधर-उधर पेड़ों के नीचे/ दुबकी हैं छायाएँ डर के/ वज्रपात हुआ कलरव पर/ कैसा गुंजन, कैसे झूले। क्षीण-कलेवर हुई नदी भी/ हारी-थकी रेत पर लेटी/ लगता जैसे सहमी-सकुची/ हो निर्धन विधवा की बेटी/ कौवे का क्रंदन ज्यों कोई/ भूले से अंगारा छू ले। श्वास-श्वास भीषण गर्मी में/ माचिस की सी जलती तीली त्राहि-त्राहि मच रहा भुवन में/ फिर भी उनकी आँख न गीली/ इन्द्रप्रस्थ में इन्द्र व्यस्त हैं/ शेष जगत को लगता भूले।'

जल और वन की हो रही अनुपलब्धता के पीछे एक बड़ी वजह मनुष्य की अनवरत बढ़ती जनसंख्या भी है। जनसख्या का दबाव परिवेश पर जितना बढ़ा हैं, संसाधन उतने ही घटे हैं। रोजी-रोटी और रोजगार के अवसर की तलाश में नयी कंपनियों का स्थापन हुआ है। वैज्ञानिक आविष्कार के तरीके ढूंढे गए हैं। वैज्ञानिकता ने जितनी सुविधाएँ हमारे लिए उपलब्ध करवायी हैं उससे कहीं अधिक समस्याएँ भी दी हैं। यहीं से 'वैज्ञानिक शांति और औद्योगिकीकरण के साथ मनुष्य और प्रकृति के संबंधों का एक नया माध्यम शुरू होता है। औद्योगिकीकरण के दौरान लम्बे समय तक इस बात की ओर ध्यान ही नहीं गया कि प्रकृति के रूपांतरण की भी एक सीमा है। पर्यावरण के नाश से मनुष्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है। बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशकों में प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण की चिंता एक गंभीर मुद्दों के रूप में उभर कर सामने आती है।'

वैज्ञानिक विकास के परिणाम स्वरूप धरती को छोड़कर स्वर्ग पर पहुँचने की लालसा बहुत हद तक कामयाब तो हुई है लेकिन इस कीमत पर कि अब धरती पर रहना दूभर होता जा रहा है। शैलेन्द्र शर्मा की यह चिंता गहरे में सोचने के लिए विवश करती है कि 'स्वर्ग मिले अच्छा है लेकिन/ धरणि नहीं खिसके/ स्वार्थ छोड़कर कभी देवता/ कहो हुए किसके/ हुई त्रिशंकु आधुनिक पीढ़ी/ रह-रह चुभता शूल।' 'त्रिशंकू' की स्थिति में वर्तमान आधुनिक पीढ़ी नवीनता की इतनी आग्रही है कि सब कुछ विज्ञान से ही पाना चाहती है। वैज्ञानिकता के विकास का ही नतीजा है कि आज हम परमाणु युग में प्रवेश कर जीवन की अंतिम साँसे लेने के लिए अभिशप्त हुए हैं। कब और किस समय कहाँ से विस्फोट हो, यह कल्पना भर की जा सकती है। 'गरज रही हैं/ तोपें सर पर/ बरस रहे हैं बम-गोले/ सांसत में परिवेश आज है/ फिर बसंत कैसे बोले।' तोप, बम और अन्य विस्फोटक युद्ध-सामग्रियों की वजह से विभिन्न प्रकार के संकट उत्पन्न हुए हैं।

युद्ध के उन्माद और वसंत के पराभव से पर्यावरण समस्या और भी अधिक गहरा गयी है। जब-जंगल-जमीन सभी की दुर्गति युद्ध की वर्तमानता में निश्चित होती है। 'मुख्य रूप से युद्ध की परिस्थितियों में दो प्रकार की अपरिहार्य क्षतिपूर्णता निर्मित होती है। प्रथम प्राकृतिक आवास विनष्ट होते हैं। द्वितीय समुदायों की सामाजिक व्यवस्थाएँ पूर्णत: शिथिल हो जाती हैं। अविकसित अथवा विकासशील देशों में युद्ध की स्थिति और अधिक भयानक हो जाती है, क्योंकि यहाँ की मुख्य समस्याएँ जैसे पर्यावरण की शिथिलता, कुपोषण, रोग-बाधा, बेरोजगारी, आर्थिक अस्वस्थता....सभी कुछ में वृद्धि होती है। भौतिक एवं सामाजिक परिवेश युद्ध के आघातों को झेल नहीं पाते।' अत: पर्यावरण-सुरक्षा के लिए युद्ध जैसी परिस्थिति पर भी बहुत कुछ सोचने और समझने की जरूरत है। यदि हम इस विकसित हो रही परिस्थिति से निजात पाने में सफल हो सके तो कई प्रकार की समस्याएँ स्वयमेव समाप्ति के कगार पर पहुँच जायेंगी। नवगीतकारों के हृदय में उठने वाली असली चिंता का विषय यह भी है कि क्या मानव-हृदय में विद्यमान मानवीयता को सुरक्षित रखा जा सकेगा! सुरक्षा के लिए हमने सैनिकों का निर्माण किया; सुरक्षा के लिए ही हमने राज्यों की सीमाओं का संधान किया; सुरक्षा के लिए ही अनेकों प्रकार के अत्याधुनिक हथियारों के अस्तित्व की परिकल्पना की और एक हद तक उसे साकार रूप भी दिया। सवाल ये है कि क्या हम सुरक्षित हैं? यदि हैं तो देश में नित-प्रतिदिन बढ़ रहे नक्सलवाद/माओवाद की क्या वजह है? सम्पूर्ण संसार में आतंकवादी समूहों के उदित होने के क्या कारण हैं? क्या कारण है कि रोज ही हजारों-लाखों की जाने जा रही हैं हिंसा, आगजनी और विस्फोट में? बढ़ रही हिंसा, आगजनी, आतंकवाद आदि अमानवीय समस्याओं से नवगीतकारों का हृदय व्यथित है।' यायावर के शब्दों में कहें तो यह आशा भविष्य के लिए की जा सकती है कि 'धूर्तता, पाशविकता/ नई सभ्यता/ आदमी से रहे दूर/ कटु क्रूरता/ द्वेष का ये कलुष/ दूर हो/ मन बने/ निर्मलम् निर्मलम्।' समय और परिवेश को निर्मलता से परिपूर्ण करने में नवगीतकारों का बड़ा योगदान रहा है जिसे किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन जब बात पर्यावरण संरक्षण की अपने यथार्थ रूप में की जाए तो इसे भी स्वीकार करने में कोई संदेह नहीं होनी चाहिए कि 'अब हर व्यक्ति को अपनी भूमिका तय करने का समय आ गया है- प्रतिरोध और सृजन का काम। हमें एंटीबायोटिक्स की जगह अपनी प्रतिरोधक शक्ति बढ़ाकर काम को अंजाम देना ही अपरिहार्य कदम है। यह कदम हम मिलकर उठाएँ तो परिणाम जल्दी सामने होंगे और अलग-अलग कदम हमें विलम्ब के अँधेरे में ढकेल देंगे। यह साझा संकट है तो प्रयत्न भी मिलकर करने होंगे; अन्यथा प्रकृति को गुलाम बनाने के कुत्सित प्रयास जारी रहेंगे, और हमारी कर्महीनता को लेकर आने वाली पीढ़ियाँ पानी पी-पीकर नहीं, बिन पानी के कोसेंगी।

संपर्क : हिंदी-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़
मो. ८५२८८३३३१७

अशोक तारे

आज निमाड़ का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

निमाड़ मध्यप्रदेश के पश्चिम ओर स्थित है। इसकी भौगोलिक सीमाओं में जहाँ एक तरफ विन्ध्य पर्वत और दूसरी तरफ सतपुड़ा है, जबकि मध्य में नर्मदा नदी है। पौराणिक काल में निमाड़ अनूप जनपद कहलाता था। बाद में इसे निमाड़ की संज्ञा दी गयी। फिर इसे पूर्वी और पश्चिमी निमाड़ के रूप में जानने लगे।

निमाड़ में हजारों वर्षों से उष्म जलवायु रहा है। यहाँ का सांस्कृतिक इतिहास अत्यन्त समृद्ध और गौरवशाली रहा है। विश्व की प्राचीनतम नदियों में एक नदी माँ नर्मदा का आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। नर्मदा घाटी सभ्यता का समय नावडाटौली में मिले पुरा साक्ष्यों के आधार पर लगभग ढ़ाई लाख वर्ष माना गया है। माँ नर्मदा नदी को मध्यप्रदेश की जीवन रेखा कहा जाता है। पर्वतराज मैकल की पुत्री नर्मदा को रेवा के नाम से भी जाना जाता है। नर्मदा भारतीय प्रायद्वीप की सबसे प्रमुख और भारत की 5वीं बड़ी नदी मानी जाती है। विध्य की पहाड़ियों में बसा अमरकंटक एक वन प्रदेश है। अमरकंटक को ही नर्मदा का उद्गम स्थल माना गया है। यह समुद्र तट से ३५० की ऊँचाई पर स्थित है। भारत में चार नदियों को चार वेदों के रूप में माना गया हैं- गंगा को ऋग्वेद, यमुना को यजुर्वेद, सरस्वती को अथर्ववेद और नर्मदा को सामवेद। सामवेद कलाओं का प्रतीक हैं।

माँ नर्मदा ने भी लोक कलाओं और शिल्प कलाओं को पाला-पोसा है। इसलिए माँ नर्मदा निमाड़ की जननी मानी जाती है और अत्यंत पूजनीय है।

निमाड़ की धरती अपनी गोद में अनन्त संभावनाओं से भरी हुई है। निमाड़ साहित्यकला संस्कृति व लोक गीतों के लिए प्रसिद्ध है। निमाड़ के जनजीवन में कला व संस्कृति के अनेक दर्शनीय स्थल हैं। भारत के १२ ज्योर्तिलिंगों में एक ज्योर्तिलिंग ओंकारेश्वर निमाड़ में स्थित है। देश-विदेशों से सैकड़ों दर्शनार्थी-सैलानी यहाँ आते है। निमाड़ में देखा जाए तो माँ अहिल्याबाई की नगरी महेश्वर 'माहिष्मती' (जिसका वर्णन शिवपुराण व स्कंदपुराण में मिलता है)। मनभावन घाट सहज ही मन को छू लेते हैं। कालेश्वर, जालेश्वर की नगरी, राजराजेश्वर की नगरी महेश्वर का अवलोकन करें तो, राजराजेश्वर मंदिर में ११ अखण्ड नंदा दीपक माँ अहिल्याबाई के समय से आज भी अपनी ज्योति से जगमगा रहे है। प्रति वर्ष यहाँ महाशिवरात्रि पर लाखों की संख्या में दर्शनार्थी आते हैं। इतना ही नहीं विदेशी पर्यटक भी यहाँ आकर यहीं के रंग में रँग जाते है। अनेकों फिल्मों की शूटिंग भी यहाँ हो रही है। प्रतिवर्ष यहाँ निमाड़ उत्सव का आयोजन भी बड़ी धूम-धाम से किया जाता है।

निमाड़ में खरगोन में स्थित नवग्रह मंदिर अद्भुत है। कुंदा नदी के तट पर बसा यह शहर निमाड़ में अत्यंत प्रसिद्ध है व सफेद सोने अर्थात् कपास के व्यवसाय के लिए प्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, इस जिले में डूडगाँव-बैडिया मिर्ची के उत्पादन में एशिया में दूसरे स्थान पर है। ऊन में माता महालक्ष्मी का मंदिर, सेगाँव में लालबई फूलबई, का मंदिर और सेंधवा के पास माता बिजासनी माता का मंदिर है। यहाँ नवरात्रि के पर्व पर अधिक से अधिक संख्या में श्रद्धालु आकर माता की कृपा प्राप्त करते हैं। खण्डवा में दादा

धूनी वाले के यहाँ तो बावन गजा में जैन श्रद्धालुओं का ताँता लगा ही रहता है। जानापाव और सगूर-भगूर में स्नान करने से कई जटिल से जटिल बीमारियों में अनेक रोगियों को लाभ मिलता है; ऐसी मान्यता है।

अब यदि निमाड़ के तीज त्यौहार की बात करें तो यहाँ सभी त्यौहार हर्षोउल्लास के साथ मनाए जाते हैं। प्रमुख तौर पर 'म्हारा-निमाड़, मज गणगौर को तिवार' चैत्र माह में बड़ी घर में साफ-सफाई कर, हार को लीप पोत कर सजाया जाता है। माता की बाड़ी में ज्वारे बोए जाते हैं, रथ सजाए जाते हैं। गणगौर माता की आरती कर महिलाएँ माता की बाड़ी में झालरिया गाती है। मेंहदी रचाती है। गाँव की महिलाएँ हँसी- ठिठोली कर लाड़ा-लाड़ी बनती है, पाती खेलती है, बाना निकालती है और नौ दिन की पूजा के बाद जब पांवणाजी धनियर राजा जी आते हैं तो माता गणगौर माता को साथ ले जाते हैं अर्थात् ज्वारे जलाशय में विसर्जित कर इस त्यौहार का समापन करते हैं। इसके अलावा श्रावण माह की अमावस्या तिथि को सुबह स्नानकर भिन्न-भिन्न रंगोली जिसे हम जिरोती मांडना भी कहते हैं, बनाते हैं। इसे बनाने का अपना ही ढंग होता है। पहले सादी पीली मिट्टी से, गंगा जल से, गेरू आदि से दीवार पर पुताई कर जिरोती माता बना कर पूजा की जाती है।

निमाड़ के ग्रामीण अंचलों में बैसाख में तपती अमावस में जब चन्द्रमा अपनी शीतलता खो देता है, ग्रीष्म अपने चरम पर होती है, तब निमाड़ में सत्तू अमावस मनाई जाती है। इसका वैज्ञानिक महत्व भी है। जहाँ हम गर्मी से बचने के लिए कोल्ड ड्रिंक, आइसक्रीम का प्रयोग करते है, वहीं दूसरी ओर आम का पना, नींबू शरबत, सत्तू जैसी चीजों को भूल जाते है, जबकि इनमें शरीर की गर्मी दूर करने के अद्‌भुत गुण होते है। इसीलिए ग्रीष्म ऋतु में सत्तू अमावस का पर्व मनाया जाता है। निमाड़ में आदिवासियों का भगोरिया पर्व का भी महत्वं है जहाँ युवक-युवतियाँ आकर्षक रूप से सज-धज कर अपने जीवन साथी की खोज में आते हैं। आदिवासी समाज में आपसी सहमति का तरीका भी निराला होता है। पहले लड़का-लड़की को पान खाने को देता है यदि लड़की पान को ले ले तो यह लड़की की सहमति समझी जाती है और दोनों भाग कर विवाह कर लेते हैं। इस प्रकार से निमाड़ के सभी पर्व अद्‌भुत व आकर्षक है।

निमाड़ में यदि संत परम्परा देखें तो सिंगाजी निमाड़ निर्गुणी धारा के परम तेजस्वी संत हुए जिन्होंने निमाड़ की आध्यात्मिक जीवन की धारा का रुख ही मोड़ दिया। सिंगाजी एक किसान (गवली) पशुपालक थे। इनके पिता भीमाजी, माता गौरा बाई व भाई लिम्बजी थे। इनकी किसन बाई नाम की बहिन थी। कालूजी महाराज उनके जेष्ठ पुत्र थे जिन्होंने उनके कार्य को प्रशस्त किया व उनकी आध्यात्मिक विरासत को शिष्यता प्रदान की। सिंगाजी ने लगभग ११०० पदों की रचना की जिसमें खेती किसानी के मौलिक प्रतीकों का सार्थक प्रयोग किया। 'खेती खेड़ो रे-हरी' नाम की लोकप्रिय पद है। प्रतिवर्ष शरद पूर्णिमा पर संत सिंगाजी के नाम से ग्राम सिंगाजी हरसूद में मेला लगता है। ऐसे निर्गुणी धारा के निमाड़ के संत शिरोमणी सिंगाजी आज भी लोकगीतों की गायन मंडलियों में म्हारा-म्हारो निमाड़ की रग-रग में बसते हैं।

मेरे निमाड़ की धरती पर सभी फसलें, धानों को किसान अपनी मेहनत से उपजाते हैं। यहाँ मक्का, ज्वार, तुवर, सोयाबीन, मिर्ची, कपास की अच्छी फसल होती हैं। हालाँकि आज भी कई गाँवों में पानी की कमी के कारण रबी की फसल कम लेते हैं। लेकिन माँ नर्मदा की कृपा से नहर व केनाल पहुँच गई है, जिससे वहाँ के किसानों के चेहरे पर खुशी लौट आई है और यहाँ किसान नई तकनीकों का खेती में उपयोग कर निमाड़ को उन्नत कर रहे हैं। इसमें महिलाओं का भी पूर्ण योगदान है।

निमाड़ में बोली जाने वाली निमाड़ी बोली ठेट होने के बाद भी प्रभावित करती है। यहाँ के लोग बहुत प्रेमी होते हैं व अतिथि सत्कार भी बड़े प्रेम भाव से करते है। मीठी चाय के शौकिन निमाड़ के लोगों का प्रिय भोजन दाल बाटी, ज्वार मक्के की रोटी व अमाड़ी की भाजी है।

संपर्क : ए-15/16 साईंनाथ कॉलोनी, कोलार रोड, भोपाल (म.प्र.)
मो. ९४०६५४०५०७

डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'

बहा आत्म विश्वास

आना जाना लग रहा, मोह सधा भव खेल,
अमर हुआ केवल वही, चला योग की गेल।

मरण-जन्म से है बँधा जन्ममरण के साथ,
थामे अथ का एक है, दूजा इतिहास हाथ।

सैनिक रक्षा से नहीं, करें नींद से प्यार,
शत्रु करेगा ही वहाँ निर्भय सीमा पार।

बरस किया आषाढ़ ने ठंडा ज्येष्ठ प्रकोप,
चिपक अन्यथा देह से रोग रहा था थोप।

मानवता का ही यहाँ, नाम दूसरा धर्म,
बता रहा अध्यात्म ही जन्म-मृत्यु का मर्म।

आशा में रहते छिपे सदा विविध सन्देह,
बहा आत्म विश्वास को कभी न पाता मेह।

माने श्रद्धा को सदा मन का सात्त्विक भाव,
ज्ञान नदी में तैरती आदर स्निग्धा नाव।

हावी होने दें नहीं, अपने पर आलस्य,
पकते लेंगे चोर घुस काट खेत का शस्य।

नहीं छोड़िये आज का कल पर कोई काम,
आज जहाँ अनुकूल है, हो सकता कल वाम।

स्वेद समर्पित लोक हित, लोक समर्पित लास,
जीत सकेंगे विश्व का आप सभी विश्वास।

यौवन में जिस बुद्धि ने छिंये अपरिचित कूल,
हिला रही है वृद्धता आज उसी के चूल।

स्वच्छ हृदय के भाव हों स्वच्छ मुखर उद्‌गार,
जन विश्वासों की नदी तभी करेंगे पार।

संपर्क : विजय भवन , २२८ बी, सिविल लाइन्स
कोटा- ३२४००१, मो. 09460570883

डॉ. भगवान स्वरूप चैतन्य

काँटे गुलों के साथ में

काँटे गुलों के साथ में अच्छे नहीं लगते।
पत्थर गुलों के हाथ में अच्छे नहीं लगते।।

केशर की क्यारियों में ये कलियों का चमन है।
तितली और भ्रमर साथ में अच्छे नहीं लगते।।

तेरे लबों पे बद्दुआ, नफरत की आग क्यों?
नारे कभी जज़्बात में अच्छे नहीं लगते।।

ये ज़न्नते फिरदौस अदीबों का शहर है।
ख़ंजर खज़र की शाख में अच्छे नहीं लगते।।

यूं तन पे शहीदों के तिरंगे का क़फ़न है।
मातम किसी हालात में अच्छे नहीं लगते।।

ये बर्फ पहाड़ों की पिघलने तो लगी है।
नाले कभी बरसात में अच्छे नहीं लगते।।

फूलों की हँसी वादियों में जन्मे फरिश्तो!
पत्थर तुम्हारे हाथ में अच्छे नहीं लगते।।

आग का दरिया नहीं

आग का दरिया नहीं आँखों का पानी याद रख।
रख सके तो तू मोहब्बत की कहानी याद रख।।

अपनी यादों के शज़र, दरिया का पानी याद रख।
याद रख खेतों की खुशबू, हल-किसानी याद रख।।

प्यार के मीठे तरानों की रवानी याद रख।
चाँदनी रातों में परियों की कहानी याद रख।।

दर्द के लमहों में तू दौरे जवानी याद रख।
तू हँसी ख़ाबों की ख़ातिर सावधानी याद रख।।

भूलना चाहे जिसे तू, मुँहज़बानी याद रख।
रख सके तो दुश्मनों की मेहरबानी याद रख।।

वक़्त ने चेहरों पे जो लिक्खी कहानी याद रख।
रख सके तो आदमी की ज़िन्दगानी याद रख।।

इस सियासत में दिलों की राजधानी याद रख।
ढ़ाई आखर की ग़ज़ल सबको सुनानी याद रख।।

संपर्क : लोकमंगल, ग्वालियर साहित्य अकादमी,
पं. गुलाब मार्केट-३ तल माधौगंज,
पोस्ट-लश्कर, ग्वालियर - 474001 (म.प्र.)

चरनजीत सिंह कुकरेजा

अन्तरमन के सुर लिखे

अन्तरमन के सुर लिखे, लिखे भीतर के द्वंद।
पीर पराई बूझ कर, लिखे गीत और छंद।।

समय की धारा संग बहे, कायम रक्खा होश।
सुन पाए पतझड़ में तभी, पपीहों का उद्घोष।।

धड़कन सीने की बढ़ी, जब द्वार सुनी पदचाप।
पर भीतर आए नहीं, वो निकले चुपचाप।।

थोड़ा खाँसे जोर से, के आएँगे वो दौड़।
पर वो दिन भर के थके, सोए सपने ओढ़।

आज सभी के पास हैं, अपने-अपने रूम।
पर वो अपनापन नहीं, जिस पर जाएँ झूम।।

माना साझी आज भी, है घरों की छत।
पर रिश्ते सारे लग रहे, जैसे कोरे ख़त।।

आज भी हमको याद है, वो इक क़मरे का घर!
जहाँ अवसादों बीच भी, सुनी हँसी अक्सर।।

तब आय के पास थे, गिने चुने ही स्रोत।
परिवारों में फिर भी जली, एकता की ज्योत।।

कबीर ख़जूर के पेड़ की, देते रहे मिसाल।
सच में ऊँचे शख्स का, आज यही है हाल।।

कला कलम की साधना

ऊँचा उठने के लिए, ली सिफारिशें मोल।
करते जो मूल्यांकन, रहते डाँवा डोल।।

यूं तो उड़ने के लिए, हैं पंख हमारे पास।
पर अतिक्रमणों से भरा, रहता है आकाश।।

पद की नहीं है लालसा, न पदकों की आस।
मरणोपरांत मिल जाएगा, पूरा है विश्वास।।

कला कलम के जो धनी, हरतिकड़म से दूर।
अनवरत् करते साधना, हो जाते मशहूर।।

मालाओं की ख्वाहिशें, बनती इक दिन बुत।
इक अर्से के बाद बुत, रहते न साबुत।।

बुत बनने से बेहत्तर कहीं, जीतें सबका दिल।
स्मृतियों में ताजा रहे, हस्तियाँ का बिल।।
समाज देश परिवार का, जो रखते हैं मान।
फ़ख से जीते हुए, कर जाते प्रस्थान।।

संपर्क : ४६/रेडस्कवायर सोसायटी जाटखेड़ी,
होशंगाबाद रोड, भोपाल – ४६२०४०

डॉ. राजेन्द्र उपाध्याय

आधा

आधी बाती से भी पूरा उजाला होता है
आधी लौ भी पूरी रोशनी देती है

आधी गगरी भी पूरी प्यास बुझाती है
आधे रास्ते पर भी मिलती है मंजिल

आधे बने मकानों में भी बसते हैं घर
आधे बगीचों में भी खिलते हैं फूल, आता है बसंत

आधी भरी हुई नदी भी नदी कहाती है
आधा समुद्र भी गरजता है उतनी ही शिद्दत से

आधा बादल भी बरसता है तो भिगोता है
आधा आँचल भी छाँव देता है

आधी छतरी ने भी कई बार मुझे भीगने से बचाया है,
आधी आँच ने भी ठिठुरने से बचाया है,

आधे तालाब में भी तैरती हैं मछलियाँ खिलते हैं कंवल
आधी रात को आधी नींद में देखे जाते हैं पूरे ख्वाब
आधा सच भी उतना ही काम का जितना आधा झूठ है,
पेड़ तब भी पेड़ हैं, जब वह आधा हरा, आधा ठूँठ है।

आधी खिड़की से भी आती है पूरी रोशनी, पूरी धूप
आधे घूँघट में भी नज़र आता है पूरा रूप।

आधे मैदान में भी हिरण भरते हैं कुलाँचे
आधे इन्द्रधनुष भी बला के खूबसूरत होते हैं
आधा नृत्य आधी मुद्रा आधा बाँकपन भी कमाल करता है।

आधे गाए गीतों की गूँज देर तक रहती है
आधी धुन भी बरसों बरस साथ चलती है।

आजकल आधी गर्मी आधी ठण्ड के दिन है
यह नया साल भी आधा नया, आधा पुराना।

आधे अधूरे लोगों से भी बनता है राष्ट्र
आधे अधूरे सपनों से बनता है समाज।

आधे अधूरे लोग बनते हैं महान, महात्मा और भगवान
आधी अधूरी चीजों से बनते हैं ताजमहल

आधी अधूरी पंक्तियों से लिखा जाता है महाकाव्य
आधे अधूरे उपन्यास हजारों हैं जो कभी नहीं हो पाए पूरे।।

आधी अधूरी कहानियाँ हजारों
हर प्रेम कहानी आखिर में आधी अधूरी ही रह जाती है
हर कविता आखिर में अधूरी ही रह जाती है।

आधी पढ़ी हुई किताबों की संख्या अनंत है
आधी अधूरी मूर्तियों का सौन्दर्य कम नहीं है पूरी से

मोनालिसा के चित्र में भी कुछ अधूरा-अधूरा सा है
आधी अधूरी चीजों से बना है हमारा संसार
चाँद आधा भी उतना ही खूबसूरत

आधा शरीर भी सुन्दर पूरे जितना
आधी रात भी रात भी कहाती है

दुनिया में कहीं भी कोई भी ऐसी चीज नहीं
जो पूरी की पूरी सामने आई हो।

हर चीज पहले पहल अधूरी होती है
चाहे वह पेड़ हो या मनुष्य
यहाँ तक कि हमारे भगवान भी आधे अधूरे होते हैं
हनुमान आधे मनुष्य, आधे वानर
गणेश आधे गजानन, आधे मनुष्य
नरसिंह अवतार भी तो आधा नर, आधा सिंह है

आधे की महिमा पूरे से कम नहीं है
यह धरती भी आधी जमीन में, आधी पानी में
शरीर में आधा खून, आधा पानी
मनुष्य का जीवन भी आधा जीवन में, आधा मृत्यु में

आधा हूँ मैं यहाँ तुम्हारे पास
आधा और कहीं आधा ही रहूँ मैं हमेशा
कभी पूरा न होऊँ।

संपर्क : बी-१०८, पंडारा रोड
नई दिल्ली-११०००३. मो. ९९५३३२०७२१

शिवानन्द सिंह 'सहयोगी'

बुखार दुपहरी का

कैसे ढ़ोये धूप
बुखार दुपहरी का
सूख गया नलकूप
उधार कचहरी का

मुँह पर रखकर हाथ
खाट पर खाँसे टीबी
छोड़ गये हैं साथ
सरग में पहुँची बीबी
मधुमेही है रूप
अन्हार मसहरी का

पीठदेवता रोज
नहीं दे सकते रोटी
सूज गई है सोज
जकड़ ली गाँठ लँगोटी
भूख माँगती पूप
पियार दशहरी का

अक्षर की पहचान
रतौंधी छोड़ चुकी है
वैतरणी-जलयान
साँस रथ मोड़ चुकी है
उमर खेलती जूप
दुआर धरहरी का।

शब्दों की चकबंदी

पंखनुचे पंछी की पीड़ा
शब्दों की चकबंदी गीत

भावभूमि का शिला-लेख चिर
अर्थ-गगन का श्याम-विवर
भावपक्ष की गझिन पहाड़ी
स्वर-संगम का बिरल शिखर
धीरे-धीरे स्वयं निखरता
अन्तस् की तुकबन्दी गीत

छन्दबद्ध मृदुलाई का कम
लय-यति-गति का पंख जमा
आँतों का अंगार सुलगता
एक क्रांति का शंख रमा
भूख-प्यास-श्रमजल का सागर
वादों की हदबंदी गीत

अक्षरमाला का आलिंगन
कहन-कला का शिल संक्षेप
भाषा शैली शिल्प बिम्ब की
कह कहानी का आलेप
संयम का अनुराग-क्षितिज नम
पीड़न की नसबंदी गीत

धूप के कुछ तपे दिन

अमर हो गये
धूप के कुछ तपे दिन
खबर हो गये
पृष्ठ पर कुछ छपे दिन

अनय की सफेदी
झमेले खुले थे
अमा मर्मभेदी
अकेले तुले थे
सुबह दोपहर
साँझ के कुछ नपे दिन

पीरों की साँसें
नदी के बहाये
तीरों के झाँसे
सदी के सताये
असह भूख के
जाप के कुछ जपे दिन

मनोबल मनोरथ
समय की चटकनी
मकड़ी के जाले
पलय की पटकनी
दया या दुआ
कष्ट के कुछ खपे दिन

बचपन की नानी
मनोरम कहानी
बारिश का पानी
टपकती पलानी
हँसी की खुशी
व्यर्थ के कुछ गपे दिन

संपर्क : 'शिवाभा' ए-233, गंगानगर
मेरठ -250001 (उ.प्र.)
मो. 09412212255

बद्रीप्रसाद वर्मा अनजान

सुलग रहा है आसमान

सुलग रहा है आसमान
और
तप रही है धरती
पेड़ से पत्ते
सूख कर गिर रहे हैं
और परिन्दे
व्याकुल है छाँव के लिए।
प्यास के मारे सभी जंगली जीव
परेशान हैं।
पानी की
हर तरफ
हा. हा. कार
मची हुई है।
पानी वाले
बादलों का
कहीं कोई अता पता
नहीं है।
सूरज की रोज बढ़ती
तपन से
सभी परेशान हैं।
मानो आसमान से
आग बरस रहा हो
सभी को इंतजार हैं
बादलों का
देखना है कब
बरसता है पानी।

एक नदी थी

मैं बहुत पहले
स्वच्छ, निर्मल, पावन,
एक नदी थी।
मगर आज मैं
गंदा नाला
बन गई हूँ।
मेरे जल में
पहले
ऋषि, मुनि, तपस्वी
साधू, संत
रोज नहाते थे
और हमारे जल से
सभी देवी देवताओं को
नहलाते थे।
मगर आज
हमारे जल में
कोई नहीं
नहाना चाहता।
मैं आज प्रदूषित
हो गई हूँ।
मेरे जल में
शहर का गंदा पानी
कारखाने का जहरीला पानी
कूड़ा, कचरा, मैला,
रोज गिराया जा रहा है
मैं किसी को
रोक नहीं पा रही हूं
मैं मजबूर हूं।

छू नहीं पाता हूँ

तुम्हें छुना चाहूं तो
छू नहीं पाता हूं,
तुम्हें देखना चाहूं तो
देख नहीं पाता हूं।
मेरी आँखे
तुम्हें बार-बार
देखना चाहती हैं,

मगर
तू है कि
सामने नहीं आती है,
सोच कर
मैं उदास
हो जाता हूँ,
समझ नहीं पाता
खता किसकी है
हमारी या तुम्हारी
बस बता दो हमें
एक बार
मेरे सामने आ कर।

संपर्क : अध्यक्ष - स्वर्गीय मीनू रेडियों श्रोता
क्लब, गल्लामंडी, गोला बाजार 273408
जनपद-गोरखपुर (उ.प्र.) भारत, मो. ०९८३८९११८३६

नरेश कुमार 'उदास'

सिन्दूर साँझ

सिन्दूरी साँझ
बुला गया कोई
न आकर खुद
मुझे रुला गया कोई।
सिन्दूरी साँझ ...

यह फूलों का खिलना
यह कोयल की कूक
मीठे सपनों को
जगा गया कोई।
सिन्दूरी साँझ ...

यह बरसी है बरखा
मन फिर भी है प्यासा
कलकल करती बहती नदी को
सुखा गया कोई।
सिन्दूरी साँझ ...

वृक्षों के कुंज से
झाँकता है वह अक्सर
मीठी सुरीली बाँसुरी बजा
दिल चुरा गया कोई
सिन्दूरी साँझ में
बुला गया कोई।

दूर कहीं रोशनी

दूर कहीं रोशनी जली है
दूर कहीं है अभी उजियारा
मेरे जीवन में सिमटा, दुबका बैठा है
जाने यह कैसा अँधियारा।
दूर कहीं रोशनी...

मिट्टी सा है यह जीवन
जैसा चाहे, इस को ढालो,
रेत का कण-कण सा बिखराओ
या इसको, आग में तपा लो।
दूर कहीं रोशनी ...

जाने कितने, अभी गम सहने हैं
जीवन के यह कैसे मायने हैं
दुख-सुख आते ही रहते हैं
इनसे कौन बचा है यारो।
दूर कहीं रोशनी ...

चलते-चलते थक सा गया हूँ।
मैं भूला हूँ, कहीं भटका हूँ,
सपनों की इस गठरी को ढोना
कहता हूँ खुद से, जीवन में मत हारो।
दूर कहीं रोशनी जली है
दूर कहीं है, अभी उजियारा।

संपर्क : *आकाश - कविता निवास,*
म. नं. ५४ गली नं. ३, लक्ष्मीपुरम सैक्टर बी-१ (चनौर)
पोस्ट वनतलान, जिला जम्मू -१८११३, मो. ९४१९७८८७१८

विवेक सत्यांश

मैं जीवित रहूँगा

मैं जीवित रहूँगा
किसी भी तरह
किसी भी रूप में
हर तरह के विरोध के
बावजूद मैं
जीवित रहूँगा,
चूल्हे की आग की तरह
मैं जीवित रहूँगा,
अँधेरे में जुगनू की तरह
मैं जीवित रहूँगा ,
प्रेम की तरह या
विरह की तरह
वसंत की तरह या
पतझड़ की तरह मैं
जीवित रहूँगा,
दुनिया के सबसे बड़े
झूठ के खिलाफ
मैं जीवित रहूँगा,

मैं लिखूँगा

प्रेम में डूब कर
जब मैंने कवितायें
लिखी थीं
तब मुझे नहीं पता
था कि एक दिन मैं
भूख पर भी
कवितायें लिखूँगा।
वसंत के महकते मौसम
और हवाओं की
मादकता में डूबकर
जब मैंने कवितायें लिखी
थीं
तब मुझे नहीं पता था कि
एक दिन पतझड़ के पत्तों की
तरह बिखरते हुए अपने
लाचार दिनों पर भी मैं
कवितायें लिखूँगा।
हमेशा एक नशे में डूब कर
कवितायें लिखने के पहले
मुझे नहीं पता था कि एक दिन
बिना नशे के भी मैं
कवितायें लिखूँगा।
अपने सबसे अच्छे
दिनों पर कवितायें लिखने
के पहले मुझे नहीं पता
था कि एक दिन मैं
अपने सबसे बुरे
दिनों पर भी
कवितायें लिखूँगा।

साहित्य

भूख से परेशान होकर
जब हमने आत्महत्या
करने की सोची तब
साहित्य ने मुझे भोजन दिया
भूख से परेशान होकर
जब हमने राहजनी
करने की सोची तब
साहित्य ने मुझे कलम दिया
जब हम सड़क पर असहाय
अकेले खड़े थे तब
साहित्य ने मुझे अपने
गोद में बैठाया और
एक नया जीवन दिया।

संपर्क –विवेक सत्यांशु
14/12 शिवनगर कॉलोनी अल्लापुर,
इलाहाबाद – 211006, मो. 7068327987

सुरेश कुशवाहा 'तन्मय'

यह कैसा अनुबंध

खड़े तीर नदिया के
किन्तु नहाने पर प्रतिबन्ध
न जाने, कैसा यह अनुबंध

रेत लता त्रण पेड़ नहाये
नहा रही चट्टानें
सजल हुए खाली घट
कच्छप मगरमच्छ अधियाने
लहरों का आमंत्रण है
गा–गा कर मधुरिम छन्द ...

तपता जेठ विकल मन
सींच रहे हैं मेघ स्वयं को
भुला न पाते सिन्धु, धरा
पावस विछोह के गम को
सूख गया अंतर–रस
सुरभित पवन, हुआ निर्गन्ध...

कूल किनारे हुए प्रफुल्लित
सावन बूंदें बरसे
सूखा कंठ निहारे चातक
स्वाति बूँद को तरसे
हो विरक्त बढ़ चली नदी
सागर का पाने संग...
न जाने कैसा यह अनुबंध।

चौकन्ने रहो

कब कहाँ, किस ओर से
तुम पर करेंगे वार, चौकन्ने रहो,

है उन्हीं में से कोई
जो कर रहे हैं, आज अतिशय प्यार
चौकन्ने रहो...।

है जगत का सत्य, उगते सूर्य को
सब अर्घ्य देते हैं, खड़ा वन में जो
सीधा बांस, पहला वार सब
उस पर ही करते हैं
झूठ का लेकर सहारा, कर रहे जो
सत्य पर तकरार
चौकन्ने रहो...।

ये धवल देशी धतूरे, फूल हैं निर्गंध
फल इनके कँटीले, शीश पर शिव के
चढ़े मदमस्त मन में, भूलकर
औकात, अपनी ये नशीले
लक्ष्मीपूत सब आज, जनसेवक बने हैं
दोमुँही सरकार
चौकन्ने रहो...।

प्रिय सदा से पुत्र रहता, हर पिता का
वंश को आगे बढ़ाये, डोर टूटे साँस की तब
वहीं प्यारा पुत्र, अग्नि में जलाए
प्यार के पीछे छिपी रहती
निरंतर
संशयी तलवार
चौकन्ने रहो...।

संपर्क : २२६, मां नर्मदे नगर, बिलेहरी
जबलपुर (म.प्र.) – ४८२०२० मो. ९८९३२६६०१४

राजेश रावल

आनंद का रहस्य

मुझे मालूम है
ये रक्त वर्णी पुष्प
वासंतिक मंत्र है
जिन्हें हवाओं के ऋषि
गां का उच्चारण देकर
वातावरण का अभिषेक कर रहे हैं।

मुझे यह भी मालूम है
पुष्प की हर एक पंखुड़ी
आत्मीयता से सराबोर इन क्षणों में
अपनी वानस्पतिक संपूर्णता के साथ
शब्द से स्मरण,
रूप से दर्शन होती
स्पर्श का संचरण
रस का वर्षण
गंध का वशीकरण करती हुई
अपने में मधुबन का कोष छुपाए
मदहोश हो रही है।

और मुझे अभी अभी
यह भी पता चला है कि
फूल में छुपा बीज
अपने अहं को महत् से महत्तम
और स्वयं को व्याप्त से व्यापी करने के लिए
जमीन पर आना चाहता है।

शायद वह पाना चाहता है
जमीन से जुड़ने का सुख
या जमीन में रच पच जाने के बाद
पुनः अँकुराने का आनंद।

संभव है वही कुछ बताए
आओ चलो पूछते हैं
उस आनंद के बारे में,
बीज से।

समय की धारा

दिन ने कब कहा
कि उठ जाग मेरे साथ
रात ने कब की मनुहार
कि आ सुस्ता
थोड़ी देर मेरे पास।।

ये तो गरज है अपनी ही
कि दिन-रात की धारा में बहना है।

सुबह की पहली किरण से लेकर
रात के आखरी तारे के ओझल होने तक
अपने को पल-पल
समय के साथ रचना है।

समय किसी का मित्र है, न शत्रु
यह किसी के साथ हित छल नहीं करता
जिसके पास कल है, बल है
वह आस और विश्वास की सीढ़ी चढ़ता
समय में अपने को स्थापित करता है।

आषाढ़ की पहली वर्षा से
जेठ की अंतिम तपन तक
समय के साथ-साथ चलना है।
जीवन की धरती पर निरंतर
बीज सा गलना है।

अस्तित्व

वृक्ष पतझर के बाद
फिर से हरे होकर फलते हैं
नदी भी कभी रेत में बदलकर
फिर से इठलाती हुई
बहती है सावन में

संपर्क : ए-43, पं. प्रेमनाथ डोगरा नगर,
'ग्लोरियस' के पास, रतलाम (म.प्र.)

डॉ. अनीता सिंह

बीते लम्हों का हिसाब

बन्द बक्से से कुछ खत जो पुराने निकले...

बीते लम्हों का हिसाब मिलाने निकले
गाँठ खोली तो यादों के खजाने निकले।

जिन रकीबों को हम दर्द सुनाने निकले
मेरी उम्मीद के कातिल वो पुराने निकले।

जिनसे मिलने को हम कर के बहाने निकले
उनके दर भी तो दुश्मन के ठिकाने निकले।

कुछ तो ऐसे थे अपने जो बेगाने निकले
जिनकी यादों को भुलाने में जमाने निकले।

मेरी महफिल में जो आये थे सयाने निकले
सुनने वाले तो सभी लोग दीवाने निकले।

छोटी सी जिन्दगी के इतने फसाने निकले
जब भी गाया गमगीन तराने निकले।

तल्ख यादों को इस दिल से मिटाने निकले
दिल के सब दर्द दरिया में सिराने निकले।

बन्द बक्से से कुछ खत जो पुराने निकले
आँख भर आई जब उनको जलाने निकले।

बेदिली से जिये जिस पल को भुलाने निकले
मेरे जीवन के वो लम्हात सुहाने निकले।

उनके जख्मों को

चाँद पानी में था खिल गई चाँदनी
आज की रात फिर मिल गई चाँदनी।

अपने महबूब के रूप को देखकर
ताल में आज फिर हिल गई चाँदनी।

बादलों ने जिसे टुकड़े टुकड़े किया
अब्र हटते ही फिर सिल गई चाँदनी।

जिनको धोखा मिला चाँदनी रात में
उनके जख्मों को फिर छिल गई चाँदनी।

उठती लहरें भी छूने गगन को चलीं
लूटकर आज फिर दिल गई चाँदनी।

वह

रोते हुये छोड़ती है
बाबुल का घर
सहमते हुये पग धरती है
पिया की देहरी पर।

बेसुआदी चेहरे पर
देखना चाहती है स्वाद
बड़े यत्न के बाद भी
निहारती है
खाते हुये चेहरों को।

दिखाती है खुद को
बर्फ की मानिंद
शीतल, लेकिन
पानी के ऊपर कम
ज्यादा नीचे रहना
बर्फ की फितरत।

हर उम्र के अनुभवों की
बनाती है, कथरी।
परत दर परत
बिछाती है दर्द
लगाती है,
मर्यादा के टांके।

सीवन को
करती रहती है
मजबूत।
कोई भी उघड़ी
परत
पैबंद सा
लगेगा।
स्त्री जो ठहरी।

संपर्क : (विहार)

माता प्रसाद शुक्ल

हायकु

एक- हम दूब हैं,
पद दलित होंगे
कब तलक।

दो- अनुशासन
अब न साहित्य में
न जीवन में।

तीन- कौन है बड़ा
और कौन है छोटा
समय बड़ा।

चार- अँग्रेज गए
अँग्रेजी छोड़ गए
फिर गुलामी।

पाँच- देश भाड़ में
जाति हुई महान
लोकतंत्र में।

छह- भारत माँ से
मत करो गद्दारी
नर्क मिलेगा।

सात- अपना देश
स्वर्ग से भी महान
हो भाई-चारा

आठ- हिन्दी भाषा है,
अपने भारत की
पढ़ो-पढ़ाओ।

नौ- कौन अपना
सब झूठे सपने
राम अपने।

दस - उदार दिल
राह होगी आसान
इसी में शान।

ग्यारह - मंदिर बने
राम जन्म भूमि में
यही पुकार।

बारह- राम का नाम
जीवन का सहारा
सार ही सार।

तेरह- हे ईश तेरे
हाथों में ही है, अब
सब को डोर।

चौदह- दोस्त नहीं हैं
मतलबी हैं अब
काम निकालें।

*संपर्क : कमल सिंह का बाग, लश्कर
ग्वालियर, मो. ९४७९३८५८४०*

नवल जायसवाल

शब्दों के दोनों ध्रुव

वन्दित ने जैसे ही घर में प्रवेश किया, बड़ी बेटी ने उसके हाथ में एक लम्बा सा, साधारण सा, लिफाफा हाथ में देना चाहा। बेटी जानती थी कि जब भी दादा घर में आते हैं, पूछ लेते हैं, कोई आया तो नहीं था। साथ ही दूसरा वाक्य होता था, कोई टेलीफोन तो नहीं आया। वन्दित उस दिन आई डाक के बारे में भी पूछना नहीं भूलता था। वह समाज के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों चरित्रों से पूरी तरह परिचित था। वह समाज में अच्छे कामों के लिए भी जाना जाये, इस बात को वह सहमति देता था। मनुष्य होने के साथ ही साथ उसमें कुछ दुर्गुण भी थे। इसे वह स्वीकार भी करता था, जैसे आफिस से आते समय कुछ काग़ज अपने झोले में रख लेना, बुरा होते हुए भी, वह रख लेता था। उसका चपरासी यह सब जानता था और कभी-कभी वह स्वयं वन्दित के झोले में ५-७ कोरे कागज़ रख दिया करता था। चपरासी रामसिंग जानता था कि साहब ईमानदारी के साथ इन काग़जों पर या तो कविता लिखेंगे या कहानी लिखेंगे। इससे भी चूक गये तो किसी मित्र या सन्बन्धी के पत्र का उत्तर देंगे। यदि उत्तर न भी दिया तो उस परिचित को पत्र लिखेंगे जिसने एक लम्बे समय से उसके साहब को याद न किया हो। जब दूसरे दिन वे आते, रामसिंग पूछता - ''साहब! कोई काम हो तो बता दीजिए, मैं नीचे सामान ठीक से जमा दूँ। कल रात तक काम करता रहा इसलिए सब अस्तव्यस्त पड़ा है।'' वन्दित इस दैनन्दिनी से भली-भांति परिचित था।

रामसिंग प्राचीन कालीन व्यक्ति था अत: स्वामी-भक्ति वह जानता था और अपने साहब की बढ़ती आयु देखकर उन्हें किसी प्रकार का दु:ख देना वह बुरा मानता था। हमारे समाज में ईश्वर के पश्चात् ईश्वर द्वारा रचित एक और चरित्र है: उसका नाम है सूत्रधार। यह सूत्रधार ईश्वर और लेखकों के बीच की कड़ी है ताकि जहाँ लेखक नहीं जा पा रहा है वहाँ से सामग्री लाकर वह लेखक को दे दें और शब्द-रचना का कारण बने। अत: सूत्रधार जानता है कि रामसिंग अपने आदिवासी क्षेत्र का अच्छा कलाकार है। उसकी कृतियों में क्षेत्र की तीनों कालों की सम्भावनाओं को समाहित कर लेने की अद्भुत क्षमता है। नव उन्मेष के लिए वह अपने साहब वन्दित से कुछ परामर्श लेता रहता है। परामर्श लेने से उसके सृजन को समसामयिक उतार-चढ़ाव की मर्यादाएँ अपने आप मिल जाती हैं। ऐसा अनुकरण जिज्ञासा का समाधान तो

करता ही है, साथ ही साथ उसे समय के साथ खड़ा होने में दृढ़ता मिल जाती है। ऐसे कई अवसर भी आये जब रामसिंग द्वारा पूछे गये प्रश्नों का समाधान वन्दित साहब के पास नहीं होता था। साहब आखिर साहब होता है। अपनी असमर्थता को सामने नहीं आने देगा। इसलिए वह बहाना बनाकर विषय को टाल जाया करता था। पुस्तकें पढ़ता, विशेषज्ञों से पूछता, जानकारों से सलाह करता और अचानक स्वयं रामसिंग के कमरे में जाता और कहता:-

''रामसिंग! उस दिन तुम क्या पूछना चाहते थे। मैं थोड़ा अपनी एक रिपोर्ट बनाने में व्यस्त था। इसलिए ध्यान नहीं दे पाया। तुम तो जानते ही हो जब शासन को कुछ भेजना होता है तो थोड़ा सम्हलकर लिखना होता है। खैर! तुम बताओ।''

''सर! ऐसा था कि हर मनुष्य का चेहरा या तो गोरा होगा या सांवला। फिर हम अपने चित्रों में जब भी चेहरा बनाते हैं, तरह-तरह के रंगों से पोत देते हैं। बस इतना जानना था।''

वन्दित इस प्रश्न का उत्तर बहुत पहले से जानता था, फिर भी इसका उत्तर उसी दिन क्यों नहीं दे पाया। वह सारी प्रक्रिया मन ही मन दोहराने लगा और कुछ हद तक आत्मग्लानि से टकराने लगा। उसे अफसोस तो इस बात का भी था कि मेरी जानकारी में बात होते हुए भी चार लोगों से पूछना पड़ा। जिनसे पूछा है वे क्या कहेंगे - यही न कि वन्दित को इतनी सी बात भी नहीं मालूम। खैर! प्रतिफल कुछ भी हो वह मन को तसल्ली दे रहा था कि मेरी उम्र और पद आदि के कारण वे सब लोग भूल जायेंगे कि वन्दित साहब ने क्या पूछा था। अपनी इस असामान्य सी बात उसके मन में घर तो कर गई थी। उर्दू भाषा में शायद इसे एहसासे- कमतरी कहते हैं। वैसे भी वन्दित ने अपनी एक कविता में लिखा था:-

सामान्य सी बात करना
और असामान्य हो जाना
इसके विपरीत भी
शायद
मेरे लिए सम्भव है।

वन्दित अपनी चित्रकला में कैसी भी सार्थक छलांग लगा लेता था किन्तु कविता में छलांग लगाना उसे भाता नहीं था। उसकी मान्यता थी कविता या कहानी के कथ्य का कोई-न- कोई स्रोत होना चाहिए। अपनी लेखनी का उपयोग करते समय उसे इस बात का ध्यान अवश्य रहता था कि जिस कागज़ पर लिख रहा है वह शासकीय सम्पत्ति है। उसे इस बात की भी खात्री थी कि इस चोरी को कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता है। वैसे यह कर्म शत्रुता का तो नहीं था, हाँ! वैमनस्य का बन सकता था जिसका उसे डर नहीं था। उसे इतना भर याद रहता था कि वह एक अच्छा काम कर रहा है और जो भी इस कागज पर लिखी रचनाएँ पढ़ेगा, वह चोरी सिद्ध नहीं कर पायेगा; क्योंकि आजकल कागज़ों पर वाटर मार्क आता ही नहीं है। उसे इस बात का भी यकीन था कि देश में बड़े-बड़े घपले सिद्ध नहीं हो पाते है किन्तु उसे इस बात का भी ध्यान था कि वह ऐसी जगह पर नहीं बैठा हैं कि कागज़ घपला बन जाये और कोई उसे कागज- काण्ड में फँसा दे।

फिर भी जीवन तो उथलों-पुथलों से भरा था वन्दित का। वह चाहकर भी अपने जीवन से बाहर क्यों नहीं आ पा रहा था। तभी अचानक रामसिंग का परिचित स्वर सुनाई दिया :-

''सर! आप कुछ कह रहे थे। आप परेशान से दिखाई दे रहे थे! बाद में पूछ लूँगा?''

''नहीं, नहीं, रामसिंग! ऐसी बात नहीं है। तुम्हारा प्रश्न बहुत सरल था। इस बारे में सार्वजनिक मान्यता है कि हम जो भी चित्र बनाते हैं वह वास्तविक नहीं होता है। वह एक कल्पना मात्र है जहाँ हम आकारों को रूप देते हैं। हर आकार का एक अर्थ होता है। हर आकार अपनी पसन्द का रंग चाहता है क्योंकि उसके पड़ोस में पूर्व से जो रंग आ गया है वह उससे सम्बन्ध सब पायेगा या नहीं। रंगों को भी पुनरावृत्ति की चाहता होती है। बस

इतना ध्यान रखना कि प्रत्येक रंग अपना अस्तित्व न खो दे। फूल वह शब्द है जो आकारों के आसपास घूमता रहता है और सभी रंगों को परिवार के सदस्यों के रूप में अपनाना चाहता है। रामसिंह! तुम समझ रहे हो न मेरी बात!'' सूत्रधार दोनों के साथ चल रहा था।

रामसिंग आदिवासी क्षेत्र से आने वाला चित्रकार था। उसकी अपनी परम्परा थी जिसमें परिवर्तन करना उसे आता नहीं था; और न ही उसे यह स्वीकार था। उसने केवल परम्परा का अनुकरण सीखा था - नव उन्मेष उसका साध्य नहीं था। उसके विपरीत वन्दित अपनी कृतियों में सदैव प्रयोग करता रहता था। वन्दित और रामसिंह अलग-अलग प्रकार के ध्रुव थे किन्तु मानवीय संवेदनाएँ एक सी थीं। रामसिंग बेचारा क्या करता! वह तो प्रेक्टीकल वाला आदमी था और वन्दित थ्योरी का माहिर व्यक्ति। वैसे भी वन्दित और रामसिंह के पदों में आदेश देना और आदेश का पालन करना: दो प्रकार के संस्कार थे! फिर भी दोनों चल रहे थे। अपनी-अपनी जगह।

साहब और चपरासी के बीच की दुनिया ने धीरे-धीरे वन्दित साहब को सेवा निवृत्ति की तिथि तक ला दिया और वन्दित सेवा निवृत्त हो गया। भारत की प्रशासनिक व्यवस्था तो स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही कसैली हो गई थी। वन्दित को किसी भी प्रकार का लाभ नहीं मिला; और न ही रामसिंग को। प्रतिदिन के हिसाब से मिलने वाली मजदूरी में दाल रोटी चल रही थी। वन्दित सेवा से निवृत्त तो हो गया किन्तु आफिस आना-जाना छूटा नहीं था क्योंकि उसकी पेन्शन चालू होना तो दूर, उस पर कार्यवाही तक आरम्भ नहीं हुई थी। सेवा निवृत्ति के बाद वह 'साहब' से 'बेचारा' वाले पद पर आ गया था। सूत्रधार इन सब बातों से परिचित था। वह कर भी क्या सकता था; वह भी केवल एक कठपुतली था, ईश्वर के आगे।

वन्दित को जो कागज़ दफ्तर से घर ले जाने की अघोषित छूट थी, अब बन्द हो गई थी। वन्दित ने जिसे चार्ज दिया था, वह अब साहब बन चुका था और वह वन्दित को बैठने के लिए स्टूल दिया करता था। अब वन्दित ने, जब यह सब महसूस किया तो उसने अपने आप को सीमित कर लिया। ऐसा करने से यह लाभ हुआ कि उसने कागज़ माँगना बन्द कर दिया जिसके कारण वह अपमानित होने से बच गया किन्तु रामसिंग अपना काम करता रहा। वन्दित भी हिम्मत हारने वाला नहीं था। अत: उसके सामने दो विकल्प थे: रामसिंग के माध्यम से मिलने वाले कागज़ों का उपयोग कैसे करे, पेन्शन के लिए आवेदन लिखे या अपनी आत्मशान्ति के लिए साहित्य की रचना करे। इसी उधेड़ बुन में वह चलता-चलता ऐसी जगह आ गया जहाँ से वह प्रिय आकाश को इत्मीनान से देखना चाहता था। उसके अन्तर ने उसे विवश कर दिया था। वह ऐसे पेड़ के पास आकर बैठ गया जो अन्यों से अलग तो न था, फिर भी ऐसा लगता था मानों वह अकेला है। वह वृक्ष उसे अपनापन देने वाला सा लगा।

वह आकाश की ओर देख रहा था। बैठे-बैठे उसने अपने झोले से कलम निकाली और आकाश को कागज़ मान कर लिखने लगा। उसके मन में चोरी जैसा कोई भाव नहीं था। निर्लिप्त हो जाना उसका सम्बल बन गया था- वह लिखे जा रहा था-''मैं अपने आसपास के संसार को सुरक्षित रखना चाहता हूँ। मेरे पास समय कम है। अभिव्यक्ति का जीवन अल्प आयु लेकर आता है, जबकि अनुभूति के सामने अमरत्व का फल एक विशाल संज्ञा का द्योतक है। मैंने इन दौड़ते क्षणों को संरक्षित करने की साधना की है। अँगूठा और अँगुली को मिलाने वाला स्पर्श मेरा साथ दे रहा है। है तो एक बिन्दु किन्तु यह एक विशाल पुंज बनकर सार्थक प्रतिफल दे सकता है। कभी-कभी एकान्त भी उथल-पुथल पैदा कर सकते हैं...।'' अचानक वह अपने कंधे पर किसी का स्पर्श पाता है और बिना कुछ कहे उसी के साथ चला जाता है।

पेन्शन जैसी मूल अधिकार वाली आवश्यकता का छठवें साल अन्त हुआ। पैसा तो मिला किन्तु गलत

निर्धारण के साथ। वर्तमान तक वह शासन की इस अर्थहीन नीति का शिकार बन चुका था। घर चलाना कठिन हो गया था। काम की कमी नहीं थी किन्तु मिलना कठिन था। एक काम मिला एक परिचित के यहाँ। परिचित ने वन्दित को इतना प्रताड़ित किया कि उसे हार्ट अटैक हो गया। व्यय का हिसाब जीवन के सामने छोटा हो जाता है। चलाना पड़ता है। वन्दित भी विवश था। उसके दफ्तर से चुराकर लाये जाने वाले कागज अब खत्म हो रहे थे। उन कागज़ों पर अब कविता-कहानी की बजाय शासन से गुहार किए जाने वाले आवेदन लिखे जा रहे थे।

वन्दित को अपनी साँसों की संख्या मालूम नहीं थी किन्तु उसका मंथन कहता था- हर सांस अन्तिम है। जीवन की झीना-झपटी संगति के रहते उसे दूसरा अटैक आ गया। दूसरा अटैक अर्थात् व्यय का चार गुना हो जाना था। दूसरा अटैक परिचित का दिया हुआ न होकर मित्र का था। उन्होंने वन्दित पर इतने लांछन लगाये कि वन्दित सहन न कर सका और प्रतिफल सारा परिवार स्वयं को बीमार मानने लगा। यह बात सही है कि साँसों की संख्या किसी भी इन्टरनेट या कम्प्यूटर से ज्ञात नहीं की जा सकती। वन्दित अन्तिम साँस की राह देख रहा था, प्रतिदिन। वह अपनी इस धारणा को अपने परिवार से हर समय छुपाये रखता था। परिवार वालों को अपनी-विचलन से दूर रखना वह बखूबी जानता था।

बेटी ने जो लिफाफा उसे दिया, उसने उस लिफाफे पर भेजने वाले का नाम पढ़ा और अपने सिरहाने रख दिया। अपनी आँख बन्द कर अपने बिस्तर पर लेट गया और भविष्य में जाने का प्रयास करने लगा। इस पूरी अवधि में उसे केवल अंधकार ही दिखाई दिया और यदि कुछ आकार या स्वरूप दिखाई भी दिया तो केवल आज का लिफाफा। वन्दित ने अपने अन्तरंग से पूछना भी चाहा कि आखिर इस लिफाफे में क्या है? किन्तु सदैव की भाँति लिफाफा अपना मुँह खोलने को तैयार नहीं था।

प्रकृति की संरचना है कि स्वप्न अर्धमूर्छित अवस्था में ही आते हैं। अचानक वन्दित को एक सुखद स्पर्श का आभास हुआ। आँखें जब खोली तो सामने श्रीमती जी खड़ी थीं :-

''तिवारी जी आये हैं।''

''कौन से तिवारी जी?''

''अपने अशोक तिवारी जी और सदा की तरह कुछ फल भी लाये हैं।''

इस बीच तिवारी जी वन्दित के पास आकर स्टूल पर बैठ गये और नियमित वाले शब्द दोहरा गये :-

''वन्दित जी! मैं आपकी किसी भी प्रकार की सहायता नहीं कर सकता किन्तु मेरे आने का तात्पर्य इतना सा है कि आप स्वस्थ रहें; मैं सदैव ईश्वर से प्रार्थना करूँगा।''

लम्बी चर्चा के बाद तिवारी जी चले गये, और जाते समय स्टूल पर छोड़ गये एक पूरा रीम कोरा कागज़। वन्दित डॉक्टर और दवाई से निकलकर कविता में जा रहा था। सूत्रधार बैठा सब लिख रहा था। कोरे कागज़ उसे मिल जो गये थे।

संपर्क : प्रेमन, बी 201 सर्वधर्म
कोलार रोड, भोपाल ४६२०४२

''हिन्दी भाषा एक ऐसी सार्वजनिक भाषा है, जिसे सब भेदभाव छोड़कर प्रत्येक भारतीय ग्रहण कर सकता है। न्याय उस भाषा में होना चाहिए, जिसका एक-एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है।'' - पं.मदनमोहन मालवीय,सभापति-नवम् अधिवेशन,बम्बई, सं.१९७५

अशोक मनवानी

पुरानी चाबी

नवल दादा बस्ती के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। देश के बँटवारे के बाद आकर जब यहाँ बसे, ऐसा लगा ही नहीं किसी को कि वो किसी और प्रांत से आए हैं। समरसता बनाए रखना उनका गुण था।

बस्ती में कुछ भी प्रसंग घटित हो, उससे अनजान नहीं रहते थे वे।

अक्सर कॉलोनी के उजड़े बाग में टूटी बैंच पर जा बैठते। एकांत भी पसंद था उनको। यादों में खोए रहते प्रायः।

फूलचंद जी जैन उनके परम मित्र थे। उनके साथ काफी समय बिताते। दरअसल फूलचंद जी बचपन से राष्ट्रवादी विचारधारा को मानने वाले बस्ती के प्रमुख लोगों में थे जिन्होंने सभी समुदायों को साथ लेकर समाज सेवा के कार्य किए। इन दिनों वो बस्ती में एक 'भारत माता' का भव्य मंदिर बनवाना प्रारंभ कर चुके थे। मंदिर निर्माण के लिए हजारों लोग आगे आए। बस्ती में कृषि उपज मंडी की स्थापना में भी फूलंचद जी और नवल दादा का महत्वपूर्ण योगदान था। तभी तो मंडी के दो प्रमुख द्वारों के नाम भी फूलचंद जी और नवल दादा के नाम पर रखे गए। ये वो दौर था जब देश में इमरजेंसी लग गई थी। बोलना, सुनना और बताना भी प्रतिबंधित हो चला था।

ऐसे ही बोलने और कहने पर प्रतिबंध वाले माहौल में एक बार कुछ बुजुर्ग शाम के वक्त बगीचे में बैंच पर बैठे आपसी गपशप में तल्लीन थे। उन्होंने परस्पर पत्र-पत्रिकाओं का आदान-प्रदान भी किया था। यही गतिविधि आपत्तिजनक मानी गई। पुलिस और प्रशासन के अधिकारियों ने पत्र-पत्रिकाओं की जाँच की। पत्र-पत्रिकाओं को रखना और पढ़ना कोई अपराध नहीं था। लेकिन ताज्जुब की बात थी कि उद्यान में बैठे बातचीत में शामिल सभी सात बुजुर्ग तुरंत कारावास ले जाए गए।

तब नवल दादा और उनके एक साथी उलझ गए थे पुलिस कर्मियों से। उनका कहना था कि – 'हमारा अपराध क्या है, क्या हम किसी वकील को भी नहीं बुला सकते, इस तरह आप गिरफ्तार नहीं कर सकते हमें।'

दो अन्य व्यक्ति भी मुखर थे, बाकी मौन थे।

विचारधारा विशेष का होना क्या गुनाह है कोई!

पुलिस बल सुनने को तैयार न था। उधर कॉलोनी के दो-तीन सौ लोग जमा जरूर हो गए थे लेकिन बस्ती में बीते एक महीने से ऐसी गिरफ्तारियाँ लगातार हो रही थीं। पुलिस ने आँसू गैस छोड़कर लोगों को तितर-बितर करने की कोशिश की। धुएँ के बादलों के बीच भी आंशिक विरोध-प्रतिरोध होता रहा। इसके बाद पुलिस की लारी तेजी से आगे बढ़ गई थी। नवल दादा की पत्नी के साथ करीब बीसेक महिलाओं ने जिद पकड़ ली थी कि हम भी अपने पतियों के साथ जेल जाएँगी, इनको हम अकेले नहीं छोड़ सकतीं। तभी पानी की तेज बौछार और अश्रुगैस से सड़क पर भगदड़ मच गई थी। पुलिस की लारी के पीछे कुछ दूरी तक नवल दादा का नाती बिट्टू, जो गर्मी की छुट्टियों में ननिहाल आया हुआ था, रोते हुए दौड़ पढ़ा। उसके नजरों से दूर होती जा रही पुलिस की लारी पर उसने आक्रोश में भरकर पत्थर भी फेंके थे। बस्ती में जन-प्रतिनिधि के नाम पर भी कोई ऐसा न था जो निष्पक्ष या निरपेक्ष भाव से ऐसी गिरफ्तारी का विरोध करे।

जिस शख्स पर शंका होती, पुलिस उसे साथ ले जाती। कुछ महीने - पन्द्रह दिन बाद रिहा कर दिए जाते। उनके घर वालों को लगता मानो नई जिंदगी मिली है। हिरासत में कम अवधि बिताने के बाद जो बाहर आते, कई-कई दिन आपबीती सुनाते।

कॉलोनी के बगीचे की हलचल आजकल कम हो गई थी। नवल दादा ने बीस दिन हिरासत में बिताए थे। हालांकि उन्होंने उन दिनों के खाली समय का लाभ लेकर देश विभाजन के कई संस्मरण भी लिख डाले थे।

आज उन्हीं पन्नों को पलटने नवल ने हाथों में उस पुरानी चाबी को देखना शुरू किया, जो बंटवारे के वक्त लरकाना (सिंध) के पैतृक मकान में ताला लगाने के बाद साथ ले आए थे, यह सोचकर कि शायद फिर किसी दिन दोनों मुल्क एक हो जाएँ और परिवार सहित पुराने मकान में जाकर रहने का सौभाग्य मिल जाए।

हालांकि ऐसे अनुकूल हालात बनेंगे, इसकी उम्मीद बहुत कम थी। धीरे-धीरे नए परिवेश में मन लग गया था। बरसों-बरस बीत गए। आजादी के बाद देश प्रगति भी करने लगा था। फिर अचानक आपातकाल का दौर वातावरण को कड़वा बना गया था।

लोकतंत्र में विचारों की स्वतंत्रता पर बंदिश के ये दिन साफ आकाश पर काले बादलों की तरह थे।

नवल दादा ने बस्ती के लोगों के साथ मिलकर अब बगीचे के कायाकल्प का काम हाथ में ले लिया था। बुजुर्गों ने जब बागवानी को समय दिया तो हरियाली बढ़ने लगी थी। बगीचे में जहाँ दो क्यारियाँ गेंदे और गुलाब के फूलों से महकने लगी थीं, वहीं दो क्यारियों में सदाबहार और मोंगरे के फूलों की सुरभि टहलने आने वालों का ध्यान आकर्षित करती थी। बगीचे के बीच में एक छोटा गोलाकार तुलसी वन भी विकसित हो गया था। यह सब कुछ महीने की मेहनत का ही नतीजा था। नवल दादा को हाथ में उस चाबी को लिए-लिए फिरने की आदत सी हो गई थी। मित्र लोग कहते - 'ये चाबी इस तरह क्यों सीने से चिपकाए रखते हो?' प्रश्न सुनकर नवल दादा यही उत्तर देते - 'भाई, मेरी उन यादों की प्रतीक है ये चाबी। इसे इसलिए सहेज कर रखा है कि अपनी जन्मभूमि और घर का सभी साजो-सामान छोड़ने के बाद कम से कम कोई वस्तु तो है मेरे पास। इसे कोई नहीं छीन सकता मुझसे।'

ये कहते- कहते उनकी आँखें नम हो जाती थीं, भावुक हो जाते बहुत। आज भी भरे गले से बात पूरी करते बताने लगे थे ये वृतांत।

मित्र फूलचंद ने उन्हें चाबी को कुर्ते की ऊपरी जेब में डालते देखा था। नवल आगे बोलते रहे - 'बात दरअसल यह है कि मैंने अपने पिता से जीवन में हर वाकये को सकारात्मक तरीके से देखने और स्वीकार करने की बात सीखी है। हमने तो एक समय वो जख्म पाए है, जो अभी ठीक ही नहीं हुए, नासूर बनकर जिंदा हैं। और उन जख्मों को सहते हुए हम भी जिंदा है। जिंदगी को जीते जो इम्तहान, उपहार में मिलते गए,

उन्होंने हमें मजबूत भी बना दिया है। उस दिन जब पुलिस मुझे हिरासत ले गई, तब भी मैंने इस चाबी का साथ नहीं छोड़ा। मुझे उस कोठरी में डालने से पहले पेन, छोटी डायरी, चश्मा ले जाने दिया गया। उस पुरानी चाबी को शंका की निगाह से देखते हुए जमा किया जा रहा था। तब मैंने पुलिस जवान को बताया कि ये चाबी तीस साल से सिर्फ मेरे पास है। जिस ताले की है, उसके अस्तित्व का कुछ पता नहीं, उस बस्ती का ही अब शायद नामों-निशान न हो, वो बीस घरों की बस्ती थी, उजाड़ हो गई होगी। सुना है उन मकानों को तोड़कर वहाँ के लोगों ने उसकी कीमती लकड़ी और लोहा निकालकर बेच डाला। उस बस्ती में खेती-किसानी करने लगे। उनके अपने मूल मकान आठ-दस मील दूर एक दूसरे टोले में रहे होंगे। उन्हें छोड़ना उन्हें गँवारा न हुआ होगा। हकीकत तो यह थी कि बँटवारे के दौर में वहाँ की पुलिस भी पक्षपाती हो गई थी।

'हिन्दुस्तान में आकर हमने चैन की साँस ली थी। लेकिन यहाँ पुलिस यूँ बर्बरता पर उतर आएगी, सोचा न था।' नवल दादा तल्ख स्वर में बोले थे, 'ऐसा लगा इस आपातकाल के बहाने पुलिस को पक्षपाती बनने का मौका मिल गया। कई पुलिस जवान तो बंदियों के परिवार वालों से भी पैसा ऐंठना नहीं भूले। हद हो गई बिल्कुल। एक स्वतंत्र देश में जनता से ऐसा व्यवहार किसी अपराध से कम नहीं।'

नवल बोलते रहे, उसके मित्र सुनते रहे। 'क्या लूटेंगे, किसी विस्थापित से धन, संपत्ति, कपड़े, साईकिल, घर के बर्तन, बैठक का सामान और बच्चों के खिलौने? यही न! कहते-कहते नवल के नैनों से अश्रुधारा बह निकली थी।

वेदना का वेग तीव्र था। नवल ने अँगुलियों से डबडबाई आँखों को सुखाते हुए कहा – 'हमसे कोई हमारा सम्मान और स्वाभिमान नहीं छीन सकता। परीक्षा ले लीजिए। हमें तोड़ नहीं पाएगा ये दमन चक्र।'

नवल आगे बोले – 'सरकार कितनी ही जुल्मी हो जाए, कुछ लोग इंसानियत में भरोसा रखते ही हैं। वो साल १९४८ का दौर था। जब अपनी जमीन से उखड़ने के बाद नई जगह आकर बसेरा ढूँढ़ने के कठिन हालातों में भी उस साल हुई एक हत्या के बाद पैदा हुई स्थितियों में मुझे बेकसूर जेल भेजा गया था। उस हादसे से मेरा कोई दूर-दूर का भी ताल्लुक न था और अब फिर ये इमरजेंसी का दौर देखने को मिल रहा है, जिसमें कारावास जाने वाला कोई भी व्यक्ति कसूरवार नहीं है।'

नवल ने मित्र के कंधे पर हाथ रखकर अपनी बात पूरी करते हुए कहा कि 'विधाता ने ही शायद मेरी जिदंगी में दो बड़े दुख लिखे होंगे। अपनी जमीन छोड़कर आना और दो बार सिर्फ संदेह के आधार पर हवालात की सजा। लेकिन मेरा मन कहता है कि ये दौर भी जल्द ही खत्म होगा, देखना; और फिर ये चाबी मुझे बहुत हिम्मत देती है। एक धरोहर की तरह इसे साथ रखता हूँ। ये आत्मबल बढ़ाती है। जिन्दगी की सबसे निकृष्ट परिस्थितियों का स्मरण करवाती है। इतिहास के एक काले अध्याय की याद दिलाती है। साथ ही मैदान में डटे रहने का हौसला दिलाती है ये पुरानी चाबी।'

संपर्क : *एफ-९०/६१, तुलसी नगर,*
भोपाल, मो. ९४२५६८००११

अशोक जमनानी

सुन्दर

‘बुआ, एक बात कहें- आपकी कहानियां हैं तो ग़ज़ब की; पर कुछ कहानियां बहुत बेक़ायदा हैं। अब आप ही बताओ कि चुडैलें, डायनें और भूत-प्रेत क्या इतने सुन्दर हो सकते हैं जितने सुन्दर आपकी कहानियों में होते हैं ?’

कार्तिक की बात सुनकर बुआ मुस्करायीं और फिर चुपचाप भीतर जाने लगीं तो कार्तिक की आवाज़ में नाराज़गी-सी उभरी।

‘बुआ, बताओ न आपकी इन भूत-प्रेत वाली कहानियों में ये चुडैलें, डायनें और भूत-प्रेत इतने सुन्दर क्यों होते हैं? दूसरी कहानियों में आप कितने क़ायदे की बात करती हो फिर ये बेक़ायदा कहानियां क्यों सुनाती हो ?’

इस बार कार्तिक की बात पर बुआ ने संजीदा होकर उससे ही सवाल पूछा।

‘तू जो हर बात में ये कायदा-बेक़ायदा की बात करता है, तो तू ही बता दे कि कौन सी किताब में लिखा है कि चुडैलें, डायनें और भूत-प्रेत सुन्दर नहीं हो सकते? बेक़ायदा बात मेरी नहीं, तेरी है।’

बुआ की बात सुनकर कुछ देर के लिए तो कार्तिक ख़ामोश हो गया लेकिन फिर उसने स्वयं को सही सिद्ध करने के लिए मोर्चा संभाला।

‘जहां कहीं भी चुड़ैल डायनों और भूत-प्रेत का ज़िक्र है वहां मैंने न कहीं पढ़ा है और न कहीं सुना है कि वे सुन्दर होते हैं।’

‘लो, अब तुम खुद ही बेक़ायदा बात करने लगे। आज ही मैंने जो कहानियां सुनायीं उनमें तो ये सब बहुत सुन्दर थे और उसी बात पर तो तुम मुझसे लड़ रहे हो। जब अभी मुझसे उनका सुन्दर होना सुना है तो कैसे कह सकते हो कि कहीं नहीं सुना।’

‘बुआ, यही तो बात है कि केवल तुमसे सुना है और सब तो इनको डरावना बखानते हैं। हाँ इतना हो सकता है कि धोखा देने के लिए वे सुंदर रूप धर लें। लेकिन उनकी वो सुंदरता धोखा होती है। असल में वे डरावने ही होते हैं।’

‘तो मैंने भी तो डरावना ही बखाना। बस रूप सुन्दर था।’

‘तो बुआ, रूप इतना सुन्दर होगा तो डर कैसे लगेगा! यही तो बेक़ायदा बात है।’

‘अब तुम्हारा कायदा पूरी दुनिया का क़ायदा तो हो नहीं सकता। हो सकता है

किसी दिन मेरी बेक़ायदा बात तुम्हें क़ायदे की बात लगे।'

'इतना तो तय है बुआ कि मुझे ये बात कभी भी क़ायदे की नहीं लगेगी। अब तो मैंने भी ठान लिया है कि चाहे कितनी ही किताबें क्यों न पढ़नी पढें, मैं आपको एक दिन गलत सिद्ध करके ही दम लूंगा।'

कार्तिक की बात सुनकर बुआ मुस्कराकर भीतर चली गयीं और कार्तिक अपने घर की ओर चल पड़ा। उसके दिल दिमाग ने बुआ की बात को स्वीकार नहीं किया। इसलिए भीतर की नाराजगी उसके चेहरे पर भी उतर आयी। कार्तिक की पढ़ाई इसी वर्ष पूरी हो चुकी थी और कुछ महीने पहले ही कॉलेज जाना छूटा था। कॉलेज जाता था तो वहां किसी न किसी दोस्त या अध्यापक से उसकी बहस तय रहती थी। न जाने कौन सा फितूर है उसके दिमाग में कि कोई भी बात तर्क से बाहर हो तो कार्तिक तुरंत तर्क देने लगता कि ये बात बिल्कुल बेक़ायदा है। दुनिया भर की जानकारियां उसके पास रहती हैं और उनके साथ जब वो तर्क प्रस्तुत करता तो अक्सर लोग उसके सामने हथियार डाल देते। उसके इसी स्वभाव के कारण उसके दोस्त भी उससे खिंचे-खिंचे से रहते और अध्यापक भी उसे कम ही पसंद करते लेकिन उसकी बुद्धिमत्ता का लोहा तो सब मानते ही थे। कॉलेज की परीक्षा के बाद उसने सिविल सर्विसेस की तैयारी शुरू कर दी। जब कभी उसे वक्त मिलता तो बुआ से कहानियां सुनने चला जाता। बुआ का घर मोहल्ले के तमाम लोगों के लिए अपने ही घर जैसा था। बुआ बड़े से घर में अकेली ही रहतीं और मोहल्ले के तमाम बड़े और बच्चे बेरोक टोक उनके घर चले जाते। बड़े तो अपनी किसी समस्या का समाधान पाने जाते लेकिन बच्चे और जवान बुआ से किस्से-कहानियां सुनने जाते। बुआ के पास भी कहानियों का अनोखा भंडार जमा था। बच्चों को वे राजा-रानी और परियों की कहानियां सुनातीं और नौजवानों के मन को इश्क़ मोहब्बत के किस्सों का स्वाद चखातीं। पर भूत प्रेतों के किस्से वे सबको सुनातीं और ऐसे अंदाज़ से सुनातीं कि सुनने वाले उसे कभी न भूलें। उनके ऐसे किस्सों में हर किस्सा अनोखा होता। बस, एक बात सबमें एक जैसी होती कि किस्सों में आई चुडैलें डायनें और भूत प्रेत बेहद सुन्दर होते और यही बात कार्तिक को खलती कि बुआ भूत-प्रेत, चुड़ैल-डायनों को सुन्दर बखानती हैं।

आज भी बुआ ने जो कहानी सुनायी थी उसका नायक एक भूत था और नायिका थी चुड़ैल। दोनों इतने सुंदर कि लोगों को लगे कि ये तो देवता ठहरेंगे। लेकिन फिर शुरू हुईं उनकी शरारतें, साजिशें और घातक हरकतें। लोग उनके रूप के जाल में फंसकर मरने की हालत में पहुंचे लेकिन धोखे पे धोखा खाने के बाद भी उन पर भरोसा करते रहे। भूत अंत तक वैसा ही सुंदर बना रहा और चुड़ैल की वैसी ही परी जैसी सुंदर बनी रही। अंत में सब के मरने के बाद भूत और चुड़ैल सबसे ऊंचे टीले पर बने महल में सुख से रहने लगे। कार्तिक को यही बात खल रही थी कि भला भूत और चुड़ैल कैसे मज़े में रहे। जो भी उनके शिकंजे में फंसा वो हार गया और बुराई जीत गयी। एक तो बुराई की जीत; उस पर भूत-चुड़ैल का इतना सुंदर होना कार्तिक के लिए सहन करना मुश्किल था।

कार्तिक ने बुआ से बहस तो कर ली लेकिन बहस का कोई परिणाम नहीं निकला। इसलिए उसने कुछ दिनों तक अपने तर्क के पक्ष में कुछ और बातें सोचीं और तय किया कि अब जब भी बुआ से बात होगी तो वो सिद्ध कर देगा कि भूत प्रेत रूप बदलकर सुन्दरता का धोखा दे सकते हैं; पर सुन्दर होते नहीं हैं।

कार्तिक के पिता सरकारी नौकरी में थे और सेवा निवृति के करीब पहुंच चुके थे। उन्होंने अपने गृह जिले के पास बदली की अर्ज़ी दी थी। कार्तिक बुआ से बहस का मौका ढूँढ ही रहा था कि ऐसा मौका आने से पहले ही अचानक उसके पिता का तबादला हो गया और शहर छोड़ते वक्त कार्तिक बुआ से मिलने गया तो बुआ मुस्करायीं।

'तुम भी चल दिये! तुम तो कहती थीं कि जब तक मैं ज़िंदा हूँ तब तक मुझसे बहस करोगे और अब छोड़कर जा रहे हो।'

'जल्दी ही लौटूंगा बुआ और देखना भूत-प्रेत को सुन्दर बताने वाले तुम्हारे सारे किस्सों की धज्जियां उड़ा दूंगा।'

विदा ने दोनों को बेहद उदास कर दिया और कार्तिक जब घर लौटा तो उसे सबसे अधिक दु:ख बुआ से बिछड़ने का था। उसके स्वभाव के कारण दोस्त उससे कतराते थे और मां का देहांत बचपन में ही हो गया था। बुआ उसे मां का स्नेह भी देतीं थीं और दोस्त का सा साथ भी। कार्तिक नए शहर पहुँचा तो वहां उसका जुड़ाव किसी से नहीं हो पाया लेकिन इसी एकांत ने उसे सिविल सर्विसेस में बहुत जल्दी सफलता दिलवा दी। नयी नौकरी, शादी, दो बच्चे और फिर पिता का देहांत होने तक वक्त के परिंदे साल दर साल शाखें बदलते रहे; और कार्तिक बहुत चाहने के बाद भी बुआ से मिलने कभी नहीं जा पाया। दस बरस बीत गए और दुनियां इतनी तो बदल ही गयी कि इधर बुआ का सदा हयात रौनक वाबस्ता घर भी सूना सूना रहने लगा। बीमार बुआ ज़रा भी अधिक बोलतीं तो तबियत बिगड़ने लगती। इसलिए धीरे-धीरे लोगों का आना बहुत कम हो गया और फिर उनके बड़े से घर में सन्नाटा कुछ ज़्यादा ही बोलने लगा। किसी बड़े से घर में बीमार उम्रदराज़ शख्स का होना घर को जो अलग रंगत देता है, उस रंगत में कोई रंग कहाँ होता है। दस बरस बाद कार्तिक वहां आया तो उसे यकीन ही नहीं हुआ कि कोई घर इतना भी बदल सकता है। उसने बुआ के पैर छुए तो बुआ की आँखें छलक उठीं।

'पता चल गया था कि तू बड़ा साहब बन गया है, पर इतना यकीन भी था कि तू मुझसे मिलने ज़रूर आयेगा। बस, ये नहीं सोचा था कि इतने बरस लगा देगा।'

बुआ की टूटती आवाज़ में स्नेह भी था और शिकायत भी थी।

'मैं आपको लेने आया हूँ बुआ। अब मैं आपको यहां अकेले नहीं रहने दूंगा। फिर आपसे बहस भी तो अभी पूरी कहां हुई है। आप देखना आपके सारे भूतों और चुड़ैलों को कैसे सुन्दरता के घेरे से बाहर निकालता हूँ।'

कार्तिक की बात सुनकर बुआ बहुत दिनों बाद देर तक हंसीं लेकिन कार्तिक के बहुत कहने पर भी वे उसके साथ जाने के लिए तैयार नहीं हुईं। जब कार्तिक जाने लगा तो बुआ ने उसे दो घड़ी रुकने को कहा और अलमारी से एक पुराना एलबम निकाला। उसमें केवल दो ही तस्वीरें थीं।

'ये मेरे पति और उस औरत की तस्वीर है जिसे मेरे पति ने मुझसे शादी के बाद रिश्ता जोड़ लिया था। मैंने कई बरस नर्क सा जीवन जिया। शायद नर्क भी मेरे उस जीवन से बेहतर ही होगा।'

बुआ के चेहरे की झुर्रियों में उदासी के न जाने कितने बरस अचानक रो पड़े। कार्तिक बहुत देर तक कुछ नहीं बोला। फिर उसने उन पुरानी पड़ चुकी तस्वीरों को गौर से देखा। पुरानी होने के बावजूद तस्वीरों में चेहरे बेहद स्पष्ट थे; और तस्वीरों में दोनों बेहद सुन्दर लग रहे थे; उतने ही सुन्दर जितने सुन्दर बुआ की कहानियों में चुड़ैलें और भूत-प्रेत होते थे।

संपर्क : होटल खजूरी, सतरस्ता, होशंगाबाद
मो. ९४२५३१०५८८

आईस्टीन की भाषा अंग्रेजी नहीं- जर्मन है।

अजीत श्रीवास्तव टीकमगढ़

जरा सोचो तो

हिन्दुस्तान का आदमी ज्यादा सोच रहा है बल्कि यों कहें कि बहुत ही ज्यादा सोच रहा है। सोच-सोच कर दुबला हो रहा है। कहते हैं, ''फज्जू मियां दुबले क्यों? दुनिया के अंदेशे से।'' सोचना अच्छा है, ऐसा सब कहते हैं। पूर्वज भी कह गये हैं ''बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय।'' लोगों के पास समय है सो विचार कर रहे हैं, सोच रहे हैं। यह नहीं सोच पाते कि सोचने में एक ही अंग का कार्य लिया जाता है: दिमाग का। दिमाग कहां तक सोच सकता है! लोगों को लिमिट पता नहीं। फिर भी अनलिमिटेड सोच रहे हैं; और सोच-सोच कर अपना और दूसरों का दिमाग खराब कर रहे हैं। क्या सोचना है? यही सोचो।

देश में सोचने के भी तीर्थ स्थान हैं। देश की बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान, या विकास का विधान, स्टार होटल में, ए.सी. में बैठकर होता है। फिल्म और फिल्म के गीत रचने वाले भी मंहगे होटल में सोच पाते हैं। मध्यम वर्ग चौराहों पर पान-सिगरेट की दुकान पर सोच पाता है। निम्न वर्ग सोचने से मुक्त है। वह भुगतने में विश्वास रखता है। सोच कभी कम नहीं होती। जितना सोचो, उतना ही बढ़ती है। सोच की बात भी अपूरव होती हैं। ज्यों-ज्यों सोचो, त्यों-त्यों बढ़ती है। बिना सोचे घट जाती है। सोचने में दरअसल किसी के बाप का कुछ नहीं जाता, सिवाय अपने दिमाग की कसरत के।

हम सोचने को कहते हैं; पर 'जरा' लगा कर; यानि थोड़ा सोचो। थोड़ा भी सोचो; पर सही चश्मे में देखकर सोचो। दूर गांव के स्कूल में परीक्षा देते बच्चे की आवाज आती है, ''मास्साब, गाइड में आठवां प्रश्न का उत्तर कहीं मिल रहा है।'' मास्टर जरा सोचकर कहते हैं, ''हल्ला मत करो। उसी में ढूंढों। उसी में है।'' बड़ी बात हल्के में निपट जाती है। मास्टर जानता है कि उसका स्कूल जिलाशिक्षा अधिकारी के 'नियरेस्ट' है। तभी वह स्कूल से दूरी बनाये है। यदि स्कूल उनसे दूरी बना लेता है तो वे स्कूल के 'नियरेस्ट' हो जाते हैं। यह सुख - सुविधा जरा से सोच से प्राप्त हो जाती है।

महंगाई बढ़ रही है। मध्यम वर्ग सोच-सोचकर परेशान है। कुछ पागल हो रहे हैं। जरा सोचो- सरकार हमेशा भले के लिये ही 'कटिबद्ध' होती है। कटि का अर्थ है

'कमर' यानि सरकार कमर से बंधी है। वह बेलगाम हो ही नहीं सकती है। उसकी कमर विपक्ष, मीड़िया अमेरिकन गवर्मेन्ट उसकी पार्टी अध्यक्ष बड़े-बड़े पूंजीपति कसे रखते हैं। वह डगमग हो ही नहीं सकती। तापक्रम पचास डिग्री हो रहा है। जरा सोचो, कुदरत हमें भविष्य में अधिक टेम्प्रेचर झेलने नहीं तैयार कर रही है। जरा सोचने से सच सामने आता है। ज्यादा सोच मस्तिष्क हिला घुमा, बिगाड़ देता है। जो हो रहा है, अच्छा ही हो रहा है। ऐसा जरा सोचकर देखो। सारी समस्या मिट जायेगी।

सरकारी अस्पताल में 'जीजा' पेट दर्द इलाज हेतु साले को भर्ती करने लाये। भर्ती हो गया। बैड से उठकर हाजत लगने साला चला गया। जीजा जी बैड पर कम्बल डाल 'झप' गये। इधर नर्सेस की ड्यूटी चेंज हो गई। जाने वाली नर्स ने आने वाली नर्स को नंबर में समझा दिया- बैड एक में फलां दवा, दो में फलां.... तेरह में इंजेक्शन, चौदह में पट्टी आदि। नई नर्स ने इंजेक्शन तैय्यार किया। सोते जीजा के पजामा से दिखतें 'बटक्स' पर स्प्रिट का फांहा लगा सुई लगा दी। जीजा चीखे। इतनी जोर से चीखें - ''अरे हम नहीं हैं। साला तो मैंदान गया है।'' नर्स घबराकर बड़ी नर्स के पास बिना सिरिंज निकाले दौड़ी। बड़ी नर्स ने जीजा को आकर डांटा। बैड पर सोने पर आपत्ति की। सुई निकाली, फिर डॉक्टर ने उस इंजेक्शन के असर कम करने 'ऐंटीडॉट' लगाये। जरा सोचिये! किसकी गलती है। मुझे किसी की गलती नहीं, मात्र दुर्घटना लगती है।

जरा सोचकर बड़े काम जल्द हो जाते हैं। एक मरीज को 'ग्लूकोज' की बॉटल चढ़ना थी। तीन घंटे तक 'नस' में कौन चढ़ाये, सो कम्पाउंडर ने कहा 'तीन गिलाश से कम है दवा। बोलत खोल कर पीलो, ''जरा सोच ने दोनों का मन भर दिया। एक टी.बी. पेंशेंट को एक माह लगातार इंजेक्शन लगने थे। अंतिम स्टेज का रोग था। उसने तीन दिन सुई लगवाई। दो रुपये के हिसाब से कम्पाउंडर को दिये। चौथे दिन उसने जरा सोचा; सरौते से इंजेक्शन बाटल काटा ओर मुंह में 'गटप'। विश्वास कीजिये, एक माह बाद डॉक्टर हैरान, मरीज पूर्ण स्वस्थय। कितनी बचत कर ली उसने! रोग से भी मुक्त हो गया।

लोग ट्रैफिक जाम से, सड़कों पर बढ़ती भीड़ से बहुत ही परेशान हैं। उनकी सोच-सोचकर जान पर बन आती है; पर जरा ढंग से सोचें और धन्यवाद दें टेलीविजन आविष्कार का। कितनी पब्लिक को वह घर में बैठाये हुये है, अपने चक्कर में फसाये हुये है। जरा सोचो- यह पब्लिक घर से उठकर रोड़ में आ जाये तो एक कदम भी चलना मुश्किल हो जाये। यही जरा सोच 'दारू' 'शराब' पर डालें। कितने लोग इसी की जुगाड़ में दिन भर लगे रहते है। शाम और रात रंगीन करने में लगे हैं। यह रोड पर नहीं हैं, नहीं तो भीड़ का ठिकाना न होता। दारू कितना भला हम आपका कर रही है: जरा सोच कर देखें तो।

स्कूल कॉलेज इसी से चल रहे है, क्योंकि छात्र-छात्रा ट्यूशन में, कोचिंग में लगे हैं; नहीं तो क्लास रूम में जगह न मिले। सरकार बैठने की व्यवस्था करते-करते कंगाल हो जाये। आप ऐसा मत सोचना कि मैं आपको उल्टा सोचने कह रहा हूँ। मैं तो जरा सोचने को कह रहा हूं। भ्रष्टाचार ऑफिस का ढेरो कार्य समय से पूर्ण करवा देता है; नहीं यह काम पैंडिंग हो जाये तो बाबू लोग फाइल में दबकर, घुटकर मर जाये। हमारे देश का युवक काम नहीं करना चाहता। जरा सोचकर नौकरी न मिलने का बहाना बना देता है। कम्पटीशन में बैठता है, पर अस्सी परसेंट लड़के लड़कियां परीक्षा का मजा लेने, उन्हें फीस देने ही जाते हैं। नौकरी वह चाहिये जिसमें काम न करना पड़े। धंधा सबसे अच्छा पंडिताई का होता है, जिसमें तुम्हारे ही हल्दी चावल, तुम्हारे माथे पर लगा दिये जाते हैं। तुमसे पांव पड़वा लिये जाते हैं और दक्षिणा ले ली जाती है। बिना पूंजी का व्यवसाय यह सर्वोत्तम है।

जरा सोचो- हमारे पड़ोसी मुल्क दुश्मन न

होते, टेंशन न देते तो हमारे न्यूज विभाग क्या करते? हमें जरा सोचने मसाला न मिलता। हम बहस किस बात की करते। एड्स के मरीजों की संख्या जब चाहे जहां जितनी बता दो, कोई पता करने थोड़े ही जाता है। पेट्रोल के जब-जब दाम बढ़े हैं, गाड़ी विक्रय भी बढ़ जाता है। कैसे? जरा सोचो तों- जिनने नहीं खरीदी है, वह सोचते हैं। अभी ही मजा ले लें। पता नहीं, भविष्य में तेल पेट्रोल डीजल क्या भाव का हो जाये। पैसे खाने वाली एक बकरी या भैंस आपके हाथ में आ गई है जो बदले में देती कुछ नहीं, पैसा और रुपया ही खाती है: मोबाइल लोग इस डबिया में फँसे हैं दीन दुनिया से बेखबर, मस्त हैं। मजे से जी रहे हैं। जरा सोचो- इसने हमारे देश को झूठ बोलने में ट्रेन्ड कर दिया है। "हलो" "हां" अरे यार हम तो फलां जगह हैं फिर, तुम्हारा काम करोगे। हैं वहीं! झूठ बोलकर बच गये। मोबाइल ने गति दी है घंटी बजी लोग कान में लगाकर चलेंगे जरूर, यह स्थिर नहीं रहने देता। हमसे कसरत जरूर कराता है। यह स्वास्थ्य है साहब।

आदमी आजकल दो बातों से बहुत ही परेशान है- शरीफ होना और गरीब होना। शरीफ होना सीधे होने से ताल्लुक रखता है। समाज ऐसे लोगों को बहुत सताता है। यही हाल समय समाज, सिस्टम, ने गरीबों के साथ कर रखा है। आजकल आपके यदि सिर से सारे पैंच कसे है तो लोग जीने नहीं देंगे। इसलिये अच्छा है दिमाग के दो पैच ढीले कर लें। फिर देखिये सामने वाले आपस में नहीं टकरा सकते दिमाग के सारे पैंच ढीले किये पागल से कोई नहीं बोलता। जरा सोचो- सीधे सादे पैंच ढीले रखकर जीना अच्छा है या दो पैंच दिमाग के ढीले रखकर। थोड़ा सा आपका पागल पन सामने वाले को पस्त कर देगा।

सुबह से एक टेंशन घर वालों और घर वाली का यह भी शुरू हो जाता है कि दूध देने वाला दूध में पानी मिलाता है। शुक्र है कि वह पानी मिलाता है। पर-चून की दुकान पर नहीं कहते, न देखते है, काहे में क्या-क्या मिला है? कोलड्रिंक, दवाई, ब्रेड बिस्कुट में नहीं कहते क्या मिला है। दूध में पानी मिलाया जाता है आप हम सब जानते हैं। क्यों तनाव लेते हो। जरा सोचो- तनाव आपको ले डूबेगा कि नहीं। शुद्ध दूध वैसे भी हजम करने वाले इस काल में हैं कहाँ!

जरा मीन्स, थोड़ा, यानि कम या अल्प या न्यून। सोच बढ़ा रखने की बात यदि ग्रंथों में, बुजुर्गों से, पढ़ी सुनी हों तो भूल जायें। जरा सोचो काम पर आगे बढ़ो या लग जाओ। जरा, जरा सा सोच एकत्र होकर सोच का हिमालय खड़ा कर देता है। आजकल की पत्र पत्रिकायें सोचने-पढ़ने मैटर कम देती हैं। विज्ञापन ज्यादा हो, वह भी आपने दिमाग में जोर नहीं डालना चाहती हैं। टी.वी. कभी-कभी सोचने को या जरा सोचने का कहता है। शेष दिन भर विज्ञापन देखो।

संपर्क : 'राजीव सदन' नायक मुहल्ला
टीकमगढ़ (म.प्र.) पिन - ४७२००१
मोबा. ८८२७१९२८४५

भाषा जातीय जीवन और उसकी संस्कृति की सर्वप्रधान रक्षिका है, वह उसके शील का दर्पण है और उसके विकास का वैभव है। एक दिन हिन्दी एशिया में ही नहीं, विश्व की पंचायत में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी।- गणेश शंकर विद्यार्थी, सभापति-19वां अधिवेशन ,गोरखपुर, सं. १९८६

लेखराम मृदुल

विकल्प

अबीर, मेरा नाती 12वीं में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो गया। मैंने उसे अपने कक्ष में बुलाकर पूछा - आगे क्या करोगे?

मैं बी.एस.सी. करूंगा। बाद में जो भी जाब मिलेगा, कर लूंगा।

मुझे उसकी बाते पसंद नहीं आई, क्योंकि बी.एस.सी. के तीन वर्ष बाद भी नौकरी की कोई गैरंटी नहीं। मैंने उसके अभिन्न मित्र रजनीश के माध्यम उसका गौरव गरिमामय भविष्य बनाने चर्चा करने का निर्णय लिया।

रात्रि में रजनीश के घर गया। उससे कहा- मैं अबीर का दादा हूं। उसका उज्जवल भविष्य बने, इसके लिए चिंतित हूं। तुम उसके परम मित्र हो, इसलिए तुम से विचार-विमर्श के लिए आया हूं।

उसे हार्दिक प्रसन्नता हुई - कहिये दादा जी।

अबीर बी.एस.सी. करना चाहता है। उसके बाद भी नौकरी मिलने की कोई गैरंटी नहीं। यदि वह पॉलिटेक्निक या आई.टी.आई. में मेकनीकल, इलेक्ट्रीशियन, फिटर, स्टेनों जैसे कोई भी ट्रेड लेता है, तो उसकी नौकरी पक्की। तुम उसे वर्तमान समय की महती आवश्यकता को लक्ष्य कर सार्थक तथ्यपरक बातों को उसके मन मस्तिष्क में स्थापित कर दो। संभवतः वह इसे स्वीकार ले, तो उसका सुखद भविष्य बने।

अच्छा दादा जी, मैं गंभीरता पूर्वक यथाशक्ति उसे समझाऊँगा। मैं भी चाहता हूँ वर्तमान समय की मांग को समझे और पुनः विचार मन्थन कर निर्णय लेवे।

एक हप्ते बाद घर में दोपहर को अबीर मेरे सामने कुर्सी खींच कर तीखे तेवर के साथ बैठ गया।

दादाजी मेरे दोस्त रजनीश के घर जाकर मुझे समझाने, बार-बार क्यों प्रेसर डालते हो?

देखो अबीर, मैं इसलिये तुम्हारे मित्र से मिला कि जो बातें तुम मेरे

समझाने पर भी नहीं स्वीकारते, अपने मित्र की सार्थक बातें सुनकर शायद तुम स्वीकार कर लो। मैं तुम्हारा दादा हूँ, तुम्हारे स्वर्णिम भविष्य का दायित्व मेरा है।

मैंने एक बार कह दिया था कि मैं बी.एस.सी. करूँगा। फिर मेरे मित्र के माध्यम मुझे बार-बार क्यों प्रेसर डाल रहे हो? फिर उसे घर बुला कर माँ को भी समझा रहे थे; ऐसा अपने क्यों किया?

वह गुस्से से लाल-पीला हो गया।

मैंने कहा- तुम्हारा अच्छा भविष्य बने, इसलिये तुम्हारे मित्र के माध्यम समझाना कोई बुरी बात है क्या?

वह मौन रहा।

मैं तत्क्षण वहाँ से उठ कर बाहर चला गया। अबीर के इतने उत्तेजित स्वर से मुझे गहरा मानसिक क्लेश हुआ। अब मैं दूसरा विकल्प सोचने लगा।

रात्रि में भोजन उपरांत परिवार के सभी सदस्यों के समक्ष गंभीर स्वर में कहा - अबीर अब 18 वर्ष का वयस्क हो गया है। आज से वह घर का मुखिया रहेगा। मैं तुम्हारी जो सेवा करते आ रहा हूं, आगे भी करता रहूंगा।

इतना कह कर मैं बाहर घूमने निकल पड़ा। लौटते समय अबीर अचानक रास्ते में मिला। दोनों हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में कहा - दादा जी, आप मेरे से नाराज है!

नहीं।

फिर क्यों कहा कि आज से घर का मुखिया मैं। दोपहर में आपसे जो मैंने कहा, वह मेरे मन में उमड़ते-घुमड़ते प्रश्नों के कारण। मेरे मन में आपके लिये बहुत आदर सम्मान है।

मैंने कहा- यहां रास्ते में बात मत करो, घर जा कर शांति से बैठते हैं।

घर पर आकर बैठते ही अबीर मेरे पैर पकड़ कर दीनता भरे स्वर में बोला- दादा जी, मुझसे गलती हुई। मुझे माफ कर दो। जो बातें मैने कही, उसके लिये आप चाहो तो दो चांटे भी मार सकते थे।

उसके इतने भाव भीगे मार्मिक स्वर ने मुझे अन्दर तक हिला दिया। मुझे उस पर असीम ममत्व भरी अनुभूति होने लगी।

संपर्क : साहित्यकार ट्रस्ट, साहित्यधाम बरघाट,
मुंगावानी जिला- सिवनी (म.प्र.)
पिन - ४८०६६७

कालमार्क्स का 'दासकैपिटल' किस भाषा में है-जर्मन में। यह ग्रंथ रूस और चीन का आधार ग्रंथ है। न्यूटन ने अपनी किताब किस भाषा में लिखी- लैटिन में। वह पुस्तक की भूमिका में लिखता है कि-'अंग्रेजी कोई भाषा है जिसमें मैं अपनी पुस्तक लिखूँ ?'

डॉ. संध्या शुक्ला 'मृदुल'

रोजी-रोटी की खातिर

ये दौलत भी ले लो, ये शोहरत भी ले लो।
मगर मुझे लौटा दो, वो बचपन का सावन।।
वो कागज की कश्ती, वो बारिस का पानी।।।

ऐसी लुभावनी पंक्तियां व बचपन की मीठी यादें सभी बच्चों के नसीब में नहीं होती। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जिन्हें होश संभालते ही रोजी-रोटी की व्यवस्था में जुट जाना होता है। बचपन क्या होता है! शिक्षा क्या होती है! इन बातों से वे सर्वथा अंजान रहते हैं।

कुछ ऐसी ही कहानी थी राजापुर गांव की एक लड़की मुनिया की। प्रतिदिन प्रातः होते ही वह मां के हाथों की बनी रोटी, चटनी और प्याज एक पोटली में बांधकर अपने बापू के साथ काम पर निकल जाती थी। एक दिन दोपहर को भोजन समाप्त कर वह पानी के लिए पास की होटल में गयी और गिलास उठाकर पानी पीने लगी। यह उसका प्रतिदिन का काम था। होटल में विभिन्न तरह की मिठाइयों और नमकीन से भरे थालों से भीनी-भीनी खुशबू आ रही थी। अनायास मुनिया की निगाहें समोसे से भरे ट्रे पर जाकर रुक गई। होटल के मालिक ने हंसते हुए मजाकिया लहजे में पूंछा- क्यों री समोसे खाएगी! मुनिया ने इंकार के भाव में गरदन हिलाकर कहा-नहीं, पैसे नहीं हैं। होटल वाले ने एक क्षण के लिए कुछ सोचा, फिर कहा - ले, खा ले और कागज के टुकड़े में लपेटकर एक समोसा उसकी ओर बढ़ा दिया। मुनिया कुछ दूर बैठकर समोसा खाने लगी। समोसा खाकर उसने कागज का टुकड़ा मसलकर दूर फेंका जो कि पास की बेंच में बैठे शिक्षक के सामने जाकर गिरा। शिक्षक की निगाह उस कागज पर पड़ी। उसमें एक विज्ञापन छपा था- सर्व शिक्षा अभियान। शिक्षा सबके लिए। खूब पढ़ें खूब बढ़े। पर इन सब बातों से अनजान मुनिया निर्विकार भाव से काम करने के लिए अपने बापू के साथ चली जा रही थी। मानों उसे इन संदेशों से कोई मतलब ही न था। उसके लिए तो काला अक्षर भैंस बराबर ही था।

शिक्षक ने कागज फेंकती हुयी मुनिया पर एक नजर डाली और मन ही मन सोचने लगे कि क्या सचमुच शिक्षा सबके लिए है। वस्तुतः शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए नितांत आवश्यक है। इससे मनुष्य जहां एक ओर सामाजिक मूल्यों से परिचित होता है, वहीं दूसरी ओर वह व्यक्ति को स्वावलंबी बनाती है।

एक तरुण वृक्ष की आह

एक बूढ़े वृक्ष ने अपने सामने खड़े तरुण वृक्ष से कहा - बेटे, मैं तो अब वृद्ध हो चुका हूँ, लोगों को ज्यादा सुख देने के काबिल रहा नहीं। पर तुमसे मेरा यह निवेदन है कि अपने फल-फूल और छाया से ताउम्र लोगों के जीवन में शांति और समृद्धि फैलाने का प्रयास करना। वृद्ध वृक्ष की बात सुनकर तरुण वृक्ष बड़ी ही करुण आह लेकर उसकी ओर देखने लगा और बोला - हे मेरे पूर्वज! मैं प्रतिज्ञा तो नहीं कर रहा हूं; पर पूरी कोशिश करूंगा कि जब तक मुझमें प्राण हैं, मैं मानव सेवा में तत्पर रहूं।

तभी उसे दूर से एक मानव कुल्हाड़ी लेकर अपनी ओर आते हुए दिखा। मानव की अपने प्रति कुदृष्टि एवं

निष्ठुर भाव से तरुण वृक्ष का रोम-रोम कांप गया। उसने बड़े ही करुण भाव से अपने पूर्वज एवं मानव की ओर देखा। लेकिन अगले ही पल उस दुष्ट मानव ने तरुण वृक्ष के ऊपर निर्दयता के साथ कुल्हाड़ी के अनेक प्रहार किए और कुछ ही पल में उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए।

अपने अस्तित्व के समाप्त होते-होते तरुण वृक्ष ने आह भरकर कहा - इन दुष्ट मानवों को कोई ये समझाता क्यों नहीं कि हम इनके लिए ही इस दुनियां में जी रहे हैं। मेरे शरीर का तो प्रत्येक कतरा इन्हीं की सेवा के लिए समर्पित था, लेकिन क्षणिक स्वार्थों के कारण इसने मुझे समाप्त कर दिया। यदि इसी तरह ये हमें नष्ट करते रहे तो एक दिन मानव जाति को इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी।

संपर्क : ५१२ ब्यौहारबाग, उषा मित्रा मार्ग
जबलपुर, म.प्र. पिन - ४८२००१
मो. ०९८९३८८५६७९

राकेश माहेश्वरी 'काल्पनिक'

डर

घर के सामने ओटले पर बैठा एक बालक सामने खड़ी हुई भैंस को देखते ही अपना खाली हाथ उठाकर चिल्लाया! ले..ऽऽ... ! ले....ऽऽ...अ... !! ले...ऐ.. !!! भैंस उसके सामने आ गई लेकिन उसको खाने के लिए कुछ नहीं मिला तो गुस्से में उस बालक के सामने सींग हिलाने लगी। बालक डर गया और तुरन्त घर के अंदर भागता हुआ चला गया। भैंस वहीं खड़ी रही शायद रोटी का इंतजार कर रही थी।

कुछ देर बाद वहीं बालक एक छोटी छड़ी (लकड़ी की डंडी) लेकर बाहर आ गया और भैंस को दिखाते हुए चिल्लाया! ह....अ...ट... ! ह...अ...ट.. !! भैंस आगे बढ़ गई। बात सच है जिसकी लाठी उसकी भैंस। फिर चाहे बच्चा हो या हो भैंस। सभी का एक अपना डर होता है।

समय

लम्बे दिनों से अपनी बीमारी से लड़ते हुए जीवन संघर्ष का अंत हुआ और उसकी मौत हो गई। एक बूढ़ी विधवा माँ का जवान बेटा आज मर गया है। सभी परिजन-पड़ोसी मिल जुलकर अर्थी बना रहे थे। अब उसके जीवन की अंतिम यात्रा शुरू होने की तैयारी हो रही थी। बहू का क्रन्द्रन और ऐसी असहनीय दुख भरी घड़ी सभी की आँखें गीली कर रही थी।

माँ एकदम शांत और चुपचाप थी। बहू के पास बैठकर वह उसका धैर्य बंधा रही थी, ''बेटी! धीरज रख। आज शांत हो जा। देख तेरे सामने तेरा और बच्चों का जीवन भविष्य है। 'बेटी मैंने भी अपना बेटा खोया है,' 'तू मेरे को देख आज से 35 साल पहले मेरा जब सुहाग उजड़ गया था तो मेरी साँसू माँ ही एक थी जो मेरा धैर्य बाँधती हुई सम्बल देती रहती थीं। जिसके बल पर मैं अपने बेटे का भविष्य-ताजीवन संभालती रही।' 'बेटी, जाने वाला तो चला गया है।' तुम

नहीं संभलोगी तो बच्चों को कैसे संभाल पाओगी'' बोलते-बोलते विधवा बूढ़ी माँ एकदम शांत हो गई और उसने बहू को अपनी बाँहो में भरते हुए अर्थी के आसपास खड़े लोगों से अर्थी उठाकर ले जाने के लिए इशारा किया।

बूढ़ी विधवा माँ ने आज अपना जवान बेटा खो दिया है। यही बेटा उसके बुढ़ापे का सहारा था। भरी जवानी में विधवा हो जाने के बाद उसने अपने बेटे को पाल-पोसकर बड़ा किया था। माँ आज महसूस कर रही थी। समय आज फिर पीछे चला गया है और अतीत बनकर उसके सामने खड़ा है।

सेवानिवृत्त

मस्तराम जी आज सरकारी नौकरी से सेवानिवृत्त होकर अपने कार्यालय से बिदा हो रहे हैं। अपने नाम के अनुरूप स्वभाव से भी वो मस्त थे। कार्यालय में सभी को हँसाते और खुद भी हँसते रहते थे। उन्होंने कभी अपनी उम्र को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया था।

अपने आफिस से विदा होकर वो अपने घर आये और बाहर बरामदे में आराम से कुर्सी पर बैठकर रोज की तरह झूलने लगे..। उनका बेटा प्रश्न भरी दृष्टि से उनको देखते हुए सोच रहा था 'अब ये क्या करेंगे...? कैसे भी इनको तो झेलना पड़ेगा...?' इतने में उनकी पुत्रवधू उनके पास आकर बोली, ''बाबूजी आप तो सेवानिवृत्त हो गये हैं। हमको अब अपनी चिंता हो रही है।'' अपनी नाक और भौंहे सिकोड़ते हुए तभी उनका बेटा उनसे बोला, ''बाबूजी, आप तो सेवानिवृत्त होकर शानदार आराम फरमाने लगे हैं; और हम लोग जैसे आपकी शानदार सेवा के लिए नियुक्त हैं। बस, अब।''

अपने बेटा और पुत्रवधू की व्यंग्यवार्ता और सवालिया निगाहें उनकी हृदय में चुभ रही थीं। वो रोज ही आफिस से आकर आराम से कुर्सी पर कुछ देर इसी तरह झूलते हुए आराम करते थे। उनकी पुत्रवधू चाय-नाश्ता लेकर आती थी। आज वो महसूस कर रहे थे कि उनका पेट भरा हुआ है। वो चुपचाप अपनी आँखे बंद किये हुए अपनी आराम से कुर्सी पर झूलते जा रहे थे।

मस्तराम जी को आराम करते हुए उनका बेटा शायद बर्दास्त नहीं कर पा रहा था। वो उनके पास आकर बोला, ''बाबूजी, क्या चाय-नाश्ता का इन्तजार कर रहे हो...? चलिए, उठिये, बगीचे में रोज पानी देने का काम अब आपका रहेगा।'' बाबूजी को अपनी बात से प्रभावहीन देखकर उनके बेटे ने अपने कड़क हाथों से उनको हिलाया। मस्तराम जी अपने बेटे के हाथों के दवाब से उठ तो नहीं पाये लेकिन एक तरफ लुढ़क कर गिर गये।

मस्तराम जी की अंतिम यात्रा में साथ चलते हुए कुछ लोग आपस में बतिया रहे थे, ''मस्तराम जी वास्तव में जीवन भर मस्तराम ही रहे। सेवानिवृत्ति के बाद भी उन्होंने किसी की सेवायें नहीं लीं; और अपने बेटा-पुत्रवधू को भी अपनी सेवा से निवृत्त रखकर सभी से विदा हो रहे हैं।''

संपर्क : गली नं. 7, धनारे कालोनी
नरसिंहपुर (म.प्र.) ४८७००१
मो. ०७२४७४५८५००

विमल गंगोपाध्याय

मैं और मेरा कैनवस

अनुवाद : अरुणा मुखोपाध्याय

नर्सिंग होम में मेरा बेड नम्बर है 1041,
खूबसूरत डायटीशियन मुस्मुराकर बोली,
''सुप्रभात! मिस्टर राय!
– सुप्रभात, मैंने हँसकर जवाब दिया।
– रात में ठीक से सोये थे?
– हाँ।
– परिसेवा (सुश्रुषा) ठीक है?
– हाँ।
– कोई जरूरत हो तो घन्टी बजाना।
– ज़रूर।
– रिगाडिंग डायट, एनि साजेशन?
– नो, फाइन।
***
पिछली रात दिति ने फोन किया था,
तबियत कैसी है?
मैंने कहा- अच्छी है।
– खाना–पीना?
–रेस्ट्रिक्टेड।
– नींद की गोली दी?
– पहले से ही लेता हूँ।
– दर्द?
– अब कम लग रहा है।
– फरदर चेक अप?
–आठ हफ्ते के बाद। और कुछ? मैंने पूछा
– नो। थैंक्स दिति ने फोन काट दिया।
***

किसी ने घन्टी बजाई। बिस्तर से ही बुलाया, मिनुदीदी! देखो तो कौन आया? पाँच दिन हुए नर्सिंग होम से घर आया। डॉक्टर का सुझाव है, दो महीने पूर्ण विश्राम। उसके साथ है हजारों किसम की मनाही।

***

सुजन बोला, ऑनेस्ट की कह रहा हूँ, तुम पेशेंट जैसा नहीं लग रहे हो।

– मैं खुद जैसा-वैसा लग रहा हूँ।

– नहीं। थोड़ा अलग सा। पहले से बेटर ऐंड फाइन।

– शरीर में कोई जोर नहीं है।

– रेस्ट लो। सब ठीक हो जाएगा।

– पहले की स्थिति में लौट पाऊँगा? मैंने जानना चाहा।

– क्यों नहीं? आपरेशन के बाद सभी को ऐसा ही होता है।

मैं खामोश रही। सब कुछ बतलाया नहीं जा सकता। बतलाने पर भी सुजन मानना नहीं चाहेगा। मुझे हिम्मत दिलाने के लिए तर्क-वितर्क, झूठा दिलासा का बाढ़ बहा देगा।

***

– कैसा देख रहे हैं डाक्टर साब? मैंने जानना चाहा।

– आपके साथ घर का कौन है? डाक्टर साब ने पूछा,

– कोई नहीं। भला बुरा जो कुछ कहना है, मुझसे कहिए।

– एक्स-रे देखकर जो लगा था, बीमारी उससे भी ज्यादा फैल गई।

मैं अपनी क्षमतानुसार कोशिश कर रहा हूँ। लगता है इस बार रक्षा मिल गई। पर रेस्ट्रिक्शन उसके साथ नियमित रूप से चेकअप।

***

कमरे की खिड़की पर बैठने से देख पाता हूँ, तालाब के किनारे एक आदमी छोटे-छोटे कदमों से चहलकदमी कर रहा है। उस आदमी के पैंट की जेब में छोटे-छोटे ईंटों के टुकड़े हैं। अचानक रुक कर तालाब में ढेला फेंक रहा है। पनडुब्बा या बगुला, मछली, न चुरा सके, इसलिए तालाब के ऊपर नाइलन का महीन जाल टंग दिया तालाब के मालिक ने। उसके बावजूद भी एक आदमी को पहरा देना पड़ रहा है। ढेला फेंक्कर बगुला, पनडुब्बे को भगाना पड़ रहा है।

****

मेरी बीमारी की खबर सुनकर दिति फूट-फूट के रो पड़ी थी। जैसे कि मैं कोई अप्राकृत इंसान हूँ, ऐसे मेरे दोनों कंधों को पकड़कर झकझोरी थी।

– क्या कह रहे हो? डाक्टर ने कनफर्म किया?

मैंने दिति को कभी रोते हुए नहीं देखा। रोना भी उसकी सुन्दरता को मलिन नहीं कर सका। मैं दिति को दोनों छाती के बीच सर घुसा दिया और एक लंबी साँस छोड़ी। अद्‌भुत हल्का लगने लगा अपने को।

– मैं तुम्हारे साथ चलूँगी, दिति बोली।

– कहाँ? मैंने पूछा।

–डॉक्टर के पास।

– क्यों?

– डिटेलस में जानना चाहूँगी, असल में तुमको क्या हुआ है!

– मैंने तो तुम्हें इन डिटेलस सच ही बतलाया।

दिति ने मेरा सर धीरे से पकड़कर तकिए पर रख दिया। उसके बाद दोनों घुटनों के बीच सर रखकर रोने लगी।

उस दिन क्या दितिको बेहद दुख हुआ था; या डर लगा था; या रोना ही था उस पल दूरी बनाने का कामयाब हथियार!

पिछली रात के फोन कॉल को छोड़ दिति के साथ और कोई संबंध नहीं है। कई दिन हो गए। खूबसूरत दिति अरक्षित जानकर भी मुझे कोई चिंता नहीं होती। दिति के लिए किसी पहरादार का ख्याल मुझे आता ही नहीं।

नर्सिंग होम की सफाईकर्मी कनकदी से वादा किया- उसकी अपाहिज बेटी के लिए सरकारी भत्ते का इंतजाम कर दूँगा। कनकदी से फिर कभी अगर न भी मिले तो भी! उसने उसकी बेटी का फोटो, डाक्टर का सर्टिफिकेट, अंचल प्रधान का रेकमेंड किया गया आवेदन पत्र आदि जुगाड़ कर रखी है।

****

सुजन बोला, इस बार मुहल्ले की दुर्गापूजा का रजत

जयंती है, याद है न! सर हिलाकर कहा, हाँ। तो!

– अगले माह जनरल मीटिंग। डेट अभी तय नहीं हुआ। वेनु, कहो तो, तुम्हारे घर भी किया जा सकता।

– मुझे हँसी आई। शायद मेरी बीमारी ख्याल में रखकर सुजन मीटिंग मेरे घर करने को कह रहा है।

पर यहाँ मेरी भूमिका क्या है? मैं कभी भी इन सभी में सक्रिय रूप से नहीं था। आज भी कोई दिलचस्पी नहीं है।

सुजन फिर से बोला– इस बार कलचरल फंक्शन के ऊपर जोर दिया जाएगा। मेरी तरह अनेकों का प्रोपोसल है। दितिदी का नृत्य स्कूल का प्रोग्राम रहे सप्तमी या नवमी के दिन।

– डॉक्टर साब, मैं कब घूमने जा सकूँगा?

– कहाँ?

– पहाड़ में या जंगल में।

– कोई भी एक जगह चुन लीजिए। डॉक्टर साब ने हँसा।

– पहाड़ मैंने कहा, पटनीटॉप, चारों तरफ पहाड़ से घिरा छोटी-सी बस्ती पहाड़ की चोटी पर बर्फ का चादर, जहाँ दूर-दूर में दो एक टीने की छावनी के घर-घर के पास एक टुकड़ी खेती, चिड़ियों की चहचहावट को छोड़ और कोई आवाज़ नहीं है। रास्ते का ढलान से चढ़ते समय दम फूलने लगता है। जहाँ शाम आठ बजे के बाद होती है।

– आप नस्टलजिक हुए जा रहे हैं।

– सॉरी।

– नो मैटर्स। डॉक्टर साब ने कंधे को हिलाया। हम सभी के अंदर एक खानाबदोश रहता है। किसी को मौका मिलता है, किसी को नहीं। जिसका हाल मुझ जैसे है उसकी न पूजा की छुट्टी, न क्रिस्टमस की।

****

मिनुदी को मैंने बुलाया। वह माथेपर हाथ लगाकर बोली– मामा, आपको बुखार आ रहा है।

खाने में भी रुचि नहीं है। मुँह में कोई स्वाद नहीं है। रात में देर तक नींद आती। जब तक नींद नहीं आती, पूरे बदन में असहनीय दर्द महसूस करता। टूटी-फूटी नींद में आलफाल सपना देखता। मरे हुए लोग भीड़ जमाते हैं सपने में। वे मेरे पिता, माँ, भाई, खास दोस्त हैं। चेहरे से बातचीत में वे कैसे धुंधले से लगते हैं।

सुजन ने वादा किया था कि अक्सर आएगा। सुजन की शक्ल भी हाल में कैसा ओझल-सा लग रहा है।

****

तुम कैसी हो दिति?

कैसा चल रहा तुम्हारा नाच का स्कूल? इस साल क्या प्रस्तुत कर रही हो?

चित्रागंदा। कालसंध्या? या सोजन बदिया का घाट? झबड़ाला बालवाला वह लड़का जो कभी ढोल मृदंग तो कभी बाँसुरी बजाता, मोटी-मोटी आँखों से तुम्हें देखता, फोटो खींचते समय ठीक तुम्हारे बगल में आ खड़ा होता, और क्या-क्या सब.... !

आजकल पुराना कुछ सोचते समय सब कुछ उलट-पुलट जाता है।

तब लगता है छलांग लगाकर बिस्तर से उठ दौड़कर देख आऊँ, पहले जैसे सब ठीक-ठाक है कि नहीं!

****

– मिस्टर राय!

– कहिए डॉक्टर साब। मैंने जवाब दिया।

–जरूरत पड़े तो हल्की-फुल्की किताब पढ़िए जैसे सुकुमार राय की किताबें, कॉमिक्स या जातक की कहानी। टीवी पर कार्टून कॉमिक्स या लाइट कोई फिल्म देखिए। दिमाग खपाना पड़े। ऐसा कुछ मत करिए।

– ऐसे ही चलेगा?

– हर्ज़ क्या है! डॉक्टर साब बोला, कितने लोग तो एही सब करके अच्छे से ज़िन्दगी बिता देते हैं।

– डॉक्टर साब, क्या मैं छत पर टहल सकता हूँ?

– नहीं, सीढ़ी मत चढ़िएगा। कमरे के अंदर छोटे-छोटे कदमों से चलिएगा।

– बाहर कब जाऊँगा?

– समय आने पर बता दूँगा।

****

इस बार नर्सिंग होम में मैं थर्ड फ्लोर में हूँ। बेड नम्बर

१७६१ एटेनडंर माया सहला देती है। पूछती है– मुँह धुला दूँ?

– मैं गर्दन हिलाकर बोला– नहीं। थोड़ी देर बाद।

नर्सिंग होम के आसपास कहीं पूजा हो रही है। माइकपर पुराने दिनों का बंग्ला गाना बज रहा है। हेमंत जी का स्वर। गर्दन टेढ़ा कर खिड़की से आसमान को देखा। स्वच्छ साफ सुथरा। हवा में ठंडापन है। खुद ही चादर गले तक नींच लेता हूँ। आँखे बन्द कर चुपचाप लेटा रहता हूँ।

****

आँख खोलकर देखा, खूबसूरत डायटेशियन मेरे बेड के पास खड़ी होकर हँस रही है– सुप्रभात!

– सुप्रभात, कहकर मैं अपने आप उठकर बैठने की कोशिश करता हूँ। एडेन्डर दौड़ कर आती है– रूकिए। मैं पकड़ती हूँ।

– उठ पाऊँगा। जरूर उठ सकूँगा। मैं बोला।

डायटीशियन ने मेरी पीठ पर हल्के से हाथ रखा– सकेंगे! आप खुद ही बैठ सकेंगे?

– मिस्टर राय?

– कहिए मैडम।

– आज आप काफी फ्रेश लग रहे हैं।

– थैंक यू मैडम।

– रात में ज़रूर अच्छी तरह सोए थे,

– हाँ।

– सेवा ठीक है?

– ओके

–दोपहर में टोस्ट के साथ सूप एनी मोर?

– नो। एनफ।

– डॉक्टर साब, कैसा लग रहा है। मैंने जानना चाहा।

– जिस हालत में आए थे, उससे बेहतर। खून में हिमोग्लोबिन की मात्रा बढ़ी है।

– कब छुट्टी करेंगे?

– कुछ दिन और अबज़रवेशन में रहिए।

एटेनडन्ट से कनकदी को बुलाया। तारीख बार कुछ भी याद नहीं आया। कनकदी से पूछा– पूजा शुरू हो गई?

– हाँ। आज सप्तमी, कनकदी मेरी ओर झुक आई। कल अष्टमी, माँ के पूजा स्थल पर आपके नाम मन्नत किया। बहुत जाग्रत देवी हैं। आड्डिलोगों की बूढ़ी माँ। इस साल दो सौ पाँच साल पूरा हुए।

मैं मन ही मन बोला– मेरे मुहल्ले की पूजा का यह रजत जयंती साल गिरा है। दिति के नृत्य स्कूल का प्रोग्राम होगा आज सप्तमी के दिन, नहीं तो परसों नवमी के दिन।

कनकदी ने कहा– कुछ कह रहे हैं भाई साहब?

– पूजा का माने ही है आनन्द।

मैं हँस कर बोला– पूजा का अर्थ ही है शुभ।

– ऐसा ही है और क्या!

– ऐसा ही नहीं। जो कह रहा हूँ वहीं ठीक है। तुम्हारी बेटी का फोटो और कागज़ात इकट्ठा लेती आना। जिस दिन छुट्टी होगी, याद दिला देना।

– मेरे पास ही है, कनकदी बोली।

– ले आओ।

– आज ही लेंगे?

– आज ही दो।

***

नर्सिंग होम के बेड पर चुप बैठा हूँ। एटेनडन्ट महिला मुझे साफ सुथरा बनाने के लिए सामान सजा रही है।

खूबसूरत डायटेशियन कोने वाला बेड के पेसेंट के साथ बात कर रही है। मैं जानता हूँ कि कमरा छोड़कर जाने के पहले एक बार मेरी ओर देख कर हँसेगी। तब मैं कहूँगा– पूजा अच्छी तरह बीते मैडम।

और?

कनकदी उसकी अपाहिज बेटी की जरूरी कागज़ात ले आएगी तो उसे सजा–सँवारकर मेरे तकिए के नीचे रखूँगा।

उसके बाद?

और फिर इच्छा होगी तो ऐसे कुछ देर और बैठे रहूँगा। नहीं तो तकिए पर सर रखकर करवट लिए दोनों आँखे बंद कर, वहीं तालाब के पहरादार को सोचूँगा जो ढ़ेला फेंककर बगुला, पनडुब्बिओं को भगाता है ताकि वे नाइलोन का जाल भेदकर मछली न चुरा सके।

Address : C4 Anurag Apartment
Barabazar, chandannagar,Hooghly 712136

मन्जू मनीषा

एक इबारत लिखी थी तेरे नाम की

जब बना ही दिया है तराना मुझे।
फिर तो हर मोड़ पर गुनगुनाना मुझे।।

फूल खिलने लगे शाख़ झुकने लगी।
वो ही मौसम लगे बस सुहाना मुझे।।

इक इबारत लिखी थी तेरे नाम की।
पढ़ते-पढ़ते लगा इक ज़माना मुझे।।

तू मसीहा है तेरी अदा और है।
गिर भी जाऊँ कभी तो उठाना मुझे।।

दिल जले जल गयी शहर की बस्तियाँ।
याद आता रहा घर बसाना मुझे।।

आँख में जो आँसू हैं

आँख में जो आँसू हैं कौन इसका सानी है।
रुक गया जो मोती है ढल गया तो पानी है।।

जान दे के दिखलाओ आज के जमाने में।
लैला और मजनू की तो दास्तां पुरानी है।।

नज़रें रोज़ मिलती हैं दिल मगर नहीं मिलता।
ये कौन सी शिकायत है ये कैसी बदगुमानी है।।

दोस्तों ताज्जुब क्या आज के ज़माने में।
महल में भिखारिन है, झोपड़ी में रानी है।।

ग़ज़ल ही आख़िरी तोहफ़ा वो भी पेश ख़िदमत में।
सम्हाल कर इसे रखना मेरी आख़िरी निशानी है।।

गर्दिशों में मुक़द्दर

गर्दिशों में मुक़द्दर हमारे रहे।
आपके ही चमकते सितारे रहे।।

इस तरह कुछ मुहब्बत का दस्तूर है।
हम तुम्हारे रहे, तुम हमारे रहे।।

कश्तियाँ जब समुन्दर में डूबी मेरी।
दूर तक तुम किनारे-किनारे रहे।।

जो भी समझता मुनासिब उसे पढ़ लिया।
आज तक बिन पढ़े ख़त हमारे रहे।।

अब वही आसरा हमको देने लगे।
कल तलक जो हमारे सहारे रहे।।

संपर्क : १३६ शिर्डी पुरम कोलार रोड,भोपाल
मो. ८८३९८३०५८७

डॉ. पुरुषोत्तम दुबे

'उजाले-अंधेरों के पार की ग़ज़लें'

अकादमिक स्तर पर कतिपय उम्दा प्रोफ़ेसर शायरों ने ग़ज़ल का जो हाथ थामा तो फिर उन्होंने महबूब को महबूब के अलावा उसे एक मुकम्मल इन्सान की तरह ग़ज़लों में उतारा। इस सिलसिले में चंद अजीमुश्शान शायरों में प्रोफेसर फिराक़ गोरखपुरी, प्रो. मलिक जादा मंजूर अहमद, प्रो. शहरयार, प्रो. वसीम वरेलवी, प्रो. बशीर बद्र और प्रो. राहत इन्दौरी सरीखे नामचीन शायर सम्मिलित है। जिन्होंने ग़ज़ल लेखन की दिशाएँ बदली हैं और ग़ज़लों को नए मुहावरों में ढालकर उनमें जीवन को उतारा है। कहना न होगा कि जब साहित्य में जीवन उतर आता है, तब आधुनिकता का रूप मुखर हो उठता है। बोलचाल की भाषा में आधुनिकता एक ऐसा दृष्टिकोण है जो मनुष्य की नियति को पूर्व परम्परा से सम्बद्ध न मानकर नए युग की स्थितियों के अनुसार परिभाषित करता है।

अपने-अपने स्थान से चलकर जब हिन्दी और उर्दू आम आदमी के मध्य आती है तब इन दोनों जुबानों में अंतर करना बहुत कठिन हो जाता है। गो कि आजकल ग़जल कहने का दृष्टिकोण भी आम आदमी को स्पर्श कर उसके सामाजिक परिवेश को बुनने में निमग्न है।

ग़ज़लों पर अपनी चार पुस्तकों की भाव और विचार श्रवण प्रस्तुति के उपरान्त इन्दौर शहर के स्थापित ग़ज़लकार चन्द्रभान भारद्वाज ने अपना अगला पाँचवा ग़ज़ल संग्रह 'उजाले क्या-अंधेरे क्या' अपने चहेते पाठकों के हाथों में सुपुर्द किया है यह जताते हुए कि उनकी इन ग़ज़लों में मानवीय जीवन एक ऐसे 'कैनवास' की तरह है, जिसे विभिन्न भावनाओं के विभिन्न सम और विषम रंगों से विभिन्न रूपों में सजाया हुआ है; जहाँ सुख के रंग हैं, वहाँ दुःख के रंग भी है; हँसी के साथ रुदन के रंग भी हैं; प्रेम के रंग हैं तो घृणा के रंग भी हैं; उत्साह के रंग हैं तो निरुत्साह के रंग भी हैं तथा सफलता के रंगों के साथ-साथ असफलताओं के रंग भी भरे हुए हैं। भाँति-भाँति के रंगों का वैविध्य निरूपण ही चन्द्रभान की ग़ज़लों में इन्द्रधनुषी विस्तार भरता है। बरअक्स इसके वर्तमान जीवन रंगहीन, गंधहीन और स्वादहीन हो चला है। सघन भौतिकवाद ने ठिठककर आदमी की घेराबन्दी कर डाली है। इतना ही नहीं, भौतिकवाद ने रिश्तों के बीच दरारें पैदा कर दी हैं। सामाजिक सरोकारों और सामाजिक व्यवहारों का मापदण्ड रुपए-पैसे हो गए हैं। भारद्वाज लिखते हैं -

'भेंट लिफ़ाफ़े गुलदस्तों की। दुनिया है थोथे रिश्तों की।'

सम्वेदना की कड़ी मानव-मानव को जोड़ती है। सम्वेदना भाव ही मानवीय भाव का उत्साह है। यदि सम्वेदना ही शून्य हो गईं अथवा मर गईं तो फिर मनुष्यों और पशुओं में अन्तर कहाँ

कृति : उजाले क्या अंधेरे क्या। लेखक : चन्द्रभान भारद्वाज। प्रकाशन : डॉ. पुरुषोत्तम दुबे

रह जाएगा! इस आशय को लेकर भारद्वाज लिखते हैं –

'अगर मर गई सारी सम्वेदनाएँ, रहा फ़र्क क्या वनचरों में, नरों में।' भारद्वाज का कहना है कि सम्वेदना रहित आदमी जैसे खुद अपने ही मकान में किराएदार की तरह रहता हो।

शायर भारद्वाज आज के शुष्क जीवन के पथराए होंठों पर मुस्कानों की सरिता बहाने की बात करता है। लाजिमी भी है। सीमेण्ट के जंगलों में दम्भ की इमारत खड़ी करने वाला पाषाणी दुनिया में अपनी व्यथा को सुनाए तो किसे? भारद्वाज ऐसे लोगों को मशविरा देते हैं कि जिस पर्यावरण को रौंदा है, उसी के क़रीब अपनी व्यथा को लेकर जाइए–

''उगते सूरज को छिपाया है जिन्होंने अब तक।
खुद उजालों का वो बाज़ार संभाले हुए हैं।।''

इसके बरअक्स कुछ ऐसे भी लोग ज़माने में हैं, जो वीरान हुए दिल को सजाने में लगे हैं। शायर भारद्वाज ऐसे लोग-बागों की दरियादिली भी सुनाता है–

'' वीरान दिल को एक पूजा घर बना दिया,
एक बूँद को भी प्यार का सागर बना दिया।''

ग़ज़लकार दुष्यन्त कुमार ने कहा है कि, 'तबीयत से पत्थर उछालो यारो' दुष्यन्त के इसी अन्दाज़ से जुड़कर भारद्वाज लिखते हैं –

'हर सफलता कठिन पथ से ही निकलती है सदा,
तप बिना कोई भी वरदान कहाँ मिलता है।'

दुनिया में गुनाह कुबूल हो जाए, तो सारी दुनिया रोशनाई से भर जाये। स्वीकारोक्ति एक बड़ा सहारा है जीवन से पार उतरने का, गुनाहों के दाग़ों से उभरने का। आख़िर तंग आ चुकी ज़िन्दगी के लिए, ज़िन्दगी को सँवारने के अर्थ में एक मुकाम बना है इबादत का। इबादत गुनाहों को धो डालती है। शायर लिखता है–

'है गुनाहों और दाग़ों से भरा दामन कहीं,
पर कहीं दरगाह की इक रेशमी चादर भी है।'

शायर चन्द्रभान भारद्वाज की ग़ज़लें ज़ख्म तो देती है, पर इलाज़ भी करती है; तिरस्कृत को परिष्कृत करती है; थोथे मोह से विद्रोह करती है; नख से शिख तक में भरी मानवीय फितरतों की दूरियाँ नापती है, मगर शरीर को तब तक नहीं मरोड़ती जब तक शरीर में शायर को परदु:खकातरता की सहिष्णु भाव-सम्पदा दिखाई पड़ती है।

भारद्वाज की ग़ज़लों में काम आया हर शब्द एक पुख़्ता जुबान रखता है। शब्दों को सार्थक अर्थ देने की जुबान; ताकि उनका कहा व्यर्थ न जाए। वे कलम से शब्दों की कंचुकी नहीं उतारते बल्कि ग़ज़लों के बदन पर बड़े करीने से शब्दों के ज़ेवरात जड़ते मिलते हैं; ताकि ग़ज़लों का जिस्म गमक उठे और उनकीं ग़ज़लों के पाठक उनकी ग़ज़लों से मनचाहा तादात्म्य स्थापित कर सकें।

शायर चन्द्रभान भारद्वाज ने अपने ग़ज़ल-संग्रह की जिल्द को 'उजाले क्या अंधेरे क्या' नाम दिया है। उजाले-अंधेरे को शायर सुख-दु:ख से जोड़कर परिभाषित करता है। बावजूद इसके मेरा मानना है– आदमी मुसाफिर है और ज़िन्दगी एक सफर। सफर गति-मति का पर्याय है। जो इस सफर से आँखे मूँद कर जीता है। उसके लिए उजाले-अंधेरे मायने नहीं रखते है। सुबह बनारस, शामे अवध का मुहावरा पकड़कर भारद्वाज जताना चाहते हैं कि ज़िन्दगी में यायावरी भी बहुत जरूरी है। सफर से आँखे मोड़ने वालों के लिए मंज़िल तो हरगिज़ बनी ही नहीं है। अंधेरे से निकलकर उजाले के दुनिया में दो कदम धरना ही अवध की शाम और बनारस की सुबह से परिचित होना है। इसके मुत्तअलिक एक बड़ा मौजूँ शेर कहा गया है–

'सैरकर दुनिया की ग़ाफिल ज़िन्दगानी फिर कहाँ,
ज़िन्दगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ।'

अवध की मस्ती और बनारस की सुबह दोनों की जुगलबंदी दर्शाते हुए शायर भारद्वाज लिखते हैं–

' अवध की मस्त शामे क्या बनारस के सबेरे क्या,
अगर हों बंद आँखें तो उजाले क्या अंधेरे क्या।'

संपर्क : ७४ जे/ए स्कीम नं. ७१, इंदौर ४५२००१(म.प्र.)
मो. ९४०७१८६९४०

अगस्त, २०१७ माह में प्राप्त समीक्षाएँ

संस्कृति संवाद, संपादक : सदानंद प्रसाद गुप्त

दमोह : श्री जीवनलाल मिश्र : 'कृति में भारत के शीर्षस्थ महापुरुषों, साहित्यकारों, राजनायकों और साधु संतों का वैचारिक मंथन को प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक भारतीय संस्कृति के उत्थान में मील का पत्थर साबित होगी। लगभग 177 विद्‌वानों के कोई 350 पत्रों की मीमांसा कर लेखक ने तत्कालीन भारतीय समाज में राष्ट्रीयता, धर्म और अध्यात्म के पुरौधा श्री पोद्‌दार जी के प्रदेयों को रेखांकित किया है। **श्यामसुन्दर शुक्ल :** पोदद्‌र जी ने १९२६ से 'कल्याण' मासिक पत्रिका प्रकाशित कर संस्कृत भाषा एवं व्याकरण का गहन परिचय पाठकों को कराया है। संस्कृत में लिखे ग्रंथों-वेद, पुराण, उपनिषद रामायण, गीता आदि का सरल एवं रोचक विवेचन-विश्लेषण करके लेखक ने भारतीय मनीषा का अमृत जन सामान्य में वितरित किया। पोद्‌दार जी अपने युग के सच्चे व्याख्याकार थे। उनकी लेखनी सें समाज, धर्म और संस्कृति की त्रिवेणी निस्सृत होती रही। **पी.पी. सिंह :** लेखक ने अनेक पत्रों का संग्रह कर जो मंजूषा सजाई है वह निश्चित ही अनेक गंधों, रंगों और सौंदर्य सोपानों को व्यक्त करती है। पत्रों द्वारा समाज की पुरातन चेतना और आधुनिक चेतना को एक तार कर सकते हैं। पत्र संस्कृति प्रवाह के सच्चे संवाहक हैं जिन्हें पढ़कर हम लोकोत्तरण कर सकते हैं। **नारायण सिंह ठाकुर :** पोद्‌दार जी पर केन्द्रित यह कृति निश्चित ही पत्र साहित्य का अत्युत्तम रूप प्रस्तुत करती है। पत्रों से हम सारे समाज को देख सकते हैं और नई पीढ़ी को उजाला दे सकते हैं। **हेमलता दुबे :** संस्कृति संवाद एक सराहनीय कृति है। मैंने कल्याण के माध्यम से जीवन शैली जीना सीखी है। मेरी लेखनी की सामाजिकता कल्याण की ही उपज है। **रामकुमार तिवारी :** कृति, पाठकों के लिए नई दृष्टि देती है। पाश्चात्य चकाचौंध में भारतीय जीवन के आदर्शों का अनुशीलन कराने का प्रकाश पुंज है कल्याण; एवं पोद्‌दार जी का जीवन दर्शन।

को-अहम् : अशोक जमनानी

विदिशा : शिव डोयले : लेखक ने अपनी अन्य कृतियों में भी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में नर्मदा को याद किया है। प्रस्तुत कृति में भी नर्मदा को केन्द्र में रखकर ताना-बाना बुनकर कृति को स्वरूप प्रदान किया है। कृति पाठक को अपनी भाषा के और कथानक के कारण बाँधे रखती है। वे माँ नर्मदा के सच्चे सपूत है। **राधेश्याम सक्सेना :** उपन्यास में आस्था और तर्क के बीच का मनोविज्ञान निरूपित करते हुए यह भी बताया गया है कि नर्मदा की परिक्रमा में ग्रामीणों द्वारा दिया जाने वाला आहार परिक्रमा वासियों के दंभ को मारने का साधन भी है। **संजय जैन :** नर्मदा यात्रा में यात्रियों के साथ अनेक अतिशय होने की घटना मन को एक ओर जहाँ विस्मय से भरती है, वहीं हमें आस्था से भी भरती है। स्वामी जी के पैर की चोट अचानक ठीक हो जाना और देवदूतों की छायाकृति के दर्शन मन को आनंद से भर देते हैं।

मंदसौर : डॉ. घनश्याम बटवाल : पुस्तक में गुरु शिष्य संवाद के माध्यम से प्रकृति उसके स्वरूप और पर्यावरण पर परत दर परत विचार किया गया है। लेखक ने श्रद्धा के साथ तर्क और वर्तमान में स्थापित मान्यताओं, परिस्थितियों में तादात्म्य स्थापित करते हुए पाठकों को तुलना करने के लिए विवश किया है। संवाद, संकेत, पात्रों,

घटनाक्रम के माध्यम से सरल शब्दों में समाज को संदेश देने में लेखक सफल रहे हैं। **देवेश्वर जोशी :** पुस्तक में किसी दार्शनिक समस्या का अपने ढंग से समाधान होगा। उपन्यास के सभी पात्रों की अपनी-अपनी कहानियों के माध्यम से समाधान दिया गया है। उपन्यास पाठक को बाँधे रखता है। **डॉ. मदनलाल पंवार :** जब तक देह, मन, बुद्धि का सुख नहीं भूलोगे तब तक वास्तविक सुख नहीं मिलेगा। लेखक ने उपन्यास में ग्रामीण व्यवस्था की कमियों, छुआछूत और वर्ण श्रेष्ठता को महिमामंडित करती कथा में शिक्षा व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। समाज में मृत्यु उपरांत बँटवारा और भोज व्यवस्था को एक सामाजिक बुराई माना है। **डॉ. डी.पी. शर्मा :** लेखक ने नर्मदा परिक्रमा के महत्त्व को दर्शाते हुए वहाँ की परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। लेखक ने मृत्यु की अनिवार्यता और सत्यता पर विचार व्यक्त करते हुए जीवन में नियति के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। **भगवती प्रसाद गेहलोत :** उपन्यास में एक ऐसे युवक की कहानी है जो अपने प्रश्नों के उत्तर खोजते हुए जीवन से पीड़ित हो संन्यास की ओर उन्मुख हुआ। साथ ही कर्मकांड व अंधविश्वास को प्रचलित मानसिकता को भी उकेरा गया है।

देवास : ओम वर्मा : मध्यप्रदेश और गुजरात की जीवन रेखा कहीं जाने वाली नर्मदा नदी का आध्यात्मिक पक्ष के साथ-साथ राजनैतिक पक्ष को लेकर भी साहित्य में लिखा गया है, तो वहीं कई आंदोलन भी खड़े हुए है, लेकिन आज भी नर्मदा की प्रासंगिकता है। जल, जमीन, रेत-खनन व वन कटाई के बाद भी नर्मदा कर्म की नदी है। यह कभी रुकती नहीं, निरंतर बहती रहती है। **यतीश कानूनगो :** नर्मदा परिक्रमा के दौरान बुना गया उपन्यास का ताना-बाना रोचक होकर ग्रामीण पात्रों के जीवन जीने के तौर-तरीकों को लेखक ने उकेरा है। **मेहरबान सिंह :** पूरे उपन्यास में नदी के अस्तित्व और स्वरूप को लेकर जो चिंतन सामने आया है, उससे यह बात बनती है कि नदियों को सहेजना होगा। **मिश्रीलाल वर्मा :** नर्मदा का नदी होना या शिवपुत्री होना एक जैसी बात हो सकती है; लेकिन नर्मदा शिवपुत्री है तो शिव का विस्तार और नर्मदा नदी है तो शिवत्व का विस्तार है। **कुसुम बागड़े :** यौवन, सम्पत्ति और अधिकार में से कोई भी मिल जाए तो व्यक्ति का संतुलन बिगड़ जाता है पर उपन्यास में खूब चर्चा हुई है।

दमोह : श्रीमती आराधना राय : उगते हुए टेसुओं की नई कोपलों और अपनी संस्कृति से नई पीढ़ी को जोड़ना पुस्तक की पुरजोर कोशिश रही है। लेखक की तरह मंदिर में या नर्मदा तट पर बैठकर अनुभूत जीवन दर्शन कृति में व्यक्त होता है। लघु उपन्यास में सदानंद की प्रश्नावली ही उसके जीवन की उत्तरमाला बन जाती है। लेखक ने विभिन्न पात्रों की रचना कर अपने लक्ष्य को मूर्तमत किया है। **मनोरमा रतले :** यह पुस्तक युवा मन की जिज्ञासा का समाधान है। यह नर्मदा की पृष्ठभूमि को लेकर लिखी गई है। कृति के माध्यम से लेखक ने संन्यास और सांसारिक संबंधों के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया है। कृति में कथाएँ आपस में गुथी हुई हैं जिसे पाठक बड़ी तन्मयता से आद्योपांत पढ़ता है। **सुश्री लक्ष्मी ताम्रकार :** उपन्यास पठनीय एवं श्लाघनीय है। लेखक के मन की अनेकश: जिज्ञासाएँ प्राप्त हुई हैं। भक्ति का स्वरूप क्या होगा-यह भी ज्ञात करने का प्रयास किया गया है। नर्मदा के माध्यम से लेखक ने अनेक समाधान प्रस्तुत करने का सद्प्रयास किया है। **डॉ. गणेश राय :** पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और जीवन के अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर तलाशने की दिशा में कथात्मक प्रयत्न है।

शिवपुरी : डॉ. परशुराम शुक्ल : 'मैं कौन हूँ' इस प्रश्न को केन्द्र में रखकर पूरे उपन्यास का ताना-बाना बुना है। उपन्यास का नायक अत्यंत जिज्ञासु प्रवृत्ति का है जो अपने अस्तित्व तथा संसार के विविध रहस्यों को जानने के लिए प्रश्न करता रहता है। अपने विद्यार्थी जीवन में भी वह अपने प्राध्यापकों से अपने अस्तित्व के विषय में कई प्रकार के प्रश्न पूछता है, किन्तु कोई भी उसका समाधान नहीं कर पाता। इसी वैचारिक द्वन्द्व में वह घर से पलायन कर जाता है। साधुओं की टोली के साथ मिलकर हरिद्वार, हिमालय के अनेक तीर्थ स्थानों की यात्रा करते

हुए अंततः एक सँन्यासी के साथ नर्मदा परिक्रमा में सम्मिलित होता है। यहाँ नर्मदा परिक्रमा का विशद् वर्णन करते हुए लेखक ने तटवासी ग्रामीणों का भक्ति-भाव, परिक्रमावासियों की सेवा सुश्रुषा का सरल और बोधगम्य भाषा में वर्णन किया है। युवक सदानंद और स्वामी का संवाद पूरे कथानक में बहुत आकर्षक ढंग से प्रस्तुत हुआ है। **डॉ. हरिप्रकाश जैन :** नर्मदा के प्रति सर्व साधारण की श्रद्धा और भक्ति का अत्यंत हृदय ग्राही वर्णन लेखक ने किया है। तटीय ग्रामवासी परिक्रमा वासियों की जिस प्रकार सहायता और सेवा करते हैं, वह नर्मदा के प्रति उनके भक्ति भाव का प्रतीक है। कथा के नायक और स्वामी जी के संवादों में जीवन के अनेक रहस्यों पर प्रकाश पड़ता है, किन्तु सदानंद की जिज्ञासाओं का समाधान नहीं होता और वह निरंतर वैचारिक द्वन्द्व में पड़ा रहता है। अंततः स्वामी जी उसे यह कहकर कि सँन्यास उसकी नियति नहीं है, उसे आग्रह पूर्वक घर भेज देते हैं। **आचार्य सुरेश शर्मा :** नायक सदानंद, जिसका पारिवारिक नाम भक्तिव्य है, उसके विद्यार्थी जीवन से लेकर तीर्थाटन, नर्मदा परिक्रमा, स्वामी के साथ संवाद ओर अंततः घर लौटकर अपने परिवार के साथ मिलने तक की कथा अत्यंत रोचक तथा आकर्षक है। उपन्यास पाठकों को बाँधकर रखने में पूर्ण समर्थ है। इस दृष्टि से लेखक का प्रयास सराहनीय है। यह कृति दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर लिखी गई है। **पुरुषोत्तम गौतम :** 'मैं कौन हूँ' यह प्रश्न सदैव मानव मन को मथता रहा है, किन्तु इसका समाधान नहीं मिल पाया है। उपन्यास का नायक इसी प्रश्न को लेकर उद्वेलित रहता है। युवावस्था में ही वह घर छोड़कर साधुओं के साथ यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। वह एक सुयोग्य गुरु की खोज में रहता है, किन्तु इच्छापूर्ण नहीं होती। अंततः वह लौटकर अपने परिवार से मिलता है और वहाँ अपनी प्रेमिका अदिति तथा उसके पुत्र अनंत से उसकी भेंट होती है। अदिति इसे प्रश्न के स्थान पर उसके उत्तर में जाने की सलाह देती है। यहाँ अनंत को लेखक ने प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हुए उपन्यास को समाप्त किया है। **अरुण अपेक्षित :** दार्शनिकता और रहस्यमयता के प्रसंगों को भी लेखक ने सहज बोधगम्य भाषा शैली में प्रस्तुत करते हुए इसे पाठकों के लिए सरल और आकर्षक बनाया है, जबकि ऐसी कथा की भाषा अपेक्षाकृत अधिक संस्कृतनिष्ठ और दुरूह होती है। **हरिश्चन्द्र भार्गव :** लेखक की भाषा शैली को अत्यंत प्रभावी, बताया पात्र और प्रसंग के अनुरूप भाषा का प्रयोग इस उपन्यास की विशेषता है। उपन्यास के तीनों खण्ड़ों में से पहला खण्ड यदि दूसरे स्थान पर होता तो कथा में निरंतरता बनी रहती, किन्तु लेखक ने बीच में से कथा को उठाते हुए बाद में उसके आरंभ और उत्कर्ष की चर्चा की है, यह चलचित्र की आधुनिक शैली की तरह प्रतीत होती है। **दिनेश बशिष्ठ :** जीवन के रहस्यों को जानना सदा से मनुष्य की जिज्ञासा रही है। प्रस्तुत कृति में इसी जिज्ञासा को केन्द्र में रखकर लेखक ने मानव जीवन के विविध प्रसंगों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है। नर्मदा यात्रा में नायक को स्वामी जी यही बताते हैं कि जिस प्रकार नर्मदा निरंतर अपने गन्तव्य की ओर बढ़ रही है, इसी प्रकार मनुष्य को अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होते रहना चाहिए। यही उपन्यास का संदेश है।

समंदर प्राण अकुलाया : रवीन्द्र भट, अनुवादक : डॉ. प्रतिभा गुर्जर

नरसिंहपुर : विवेक सक्सेना : स्वातंत्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकार के क्रांति पर्व पर आधारित उपन्यास 'समंदर प्राण अकुलाया!' वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए प्रेरणादायी रचना है। **श्रीमती नीरू जोशी :** वर्तमान आधुनिक भोगवादी प्रवत्ति की ओर बढ़ रहे समाज में अत्याचार, आतंकवाद, साम्प्रदायिकता जैसी आमानुषिक कृत्यों से जूझते देश के लिए इतिहास के क्रांतिकारियों, वीर महापुरुषों के ऐसे जीवन चरित्र पथ प्रदर्शक है। **कैप्टन पराग नेमा :** राष्ट्र, राष्ट्र की सम्पत्ति और राष्ट्र की सत्ता का अधिकार किसका है? इन सारे प्रश्नों का उत्तर है पूर्ण

स्वातंत्र्य। राष्ट्र प्रेम से ओत-प्रोत 'समंदर प्राण अकुलाया!' एक सार्थक और उत्कृष्ट कृति है जिसके अध्ययन से सावरकर जी के त्याग, अदम्य साहस और समर्पण के दर्शन होते हैं। रचना धर्मिता तो लेखक का गुण है परंतु ऐसी रचनाओं से राष्ट्र-प्रेम की भावना पाठकों में बलवती होती है। **अलीम खान :** हिन्दी देश की जन-जन की भाषा है, मराठी कृति 'समंदर प्राण अकुलाया!' का हिन्दी रूपांतरण स्वतंत्र वीर विनायक दामोदर सावरकर के लोमहर्षक चरित्र को जन-जन तक पहुँचाने का श्रेष्ठ प्रयास है। **श्रीमती माधुरी गर्ग :** देश की स्वतंत्रता के लिए हाथों में हथकड़ी पहन फाँसी और कालापानी स्वीकार करने वाले सूर्य के समान तेजस्वी वीरों के उत्कर्ष को जन सामान्य तक पहुँचाना वर्तमान समय की महती आवश्यकता है। ऐसी कृतियाँ देश समाज के प्रति आत्म उत्कर्ष हेतु पथ प्रदर्शक है। **श्रीमती आराधना दुबे :** 'समंदर प्राण अकुलाया!' मराठी से हिन्दी अनुवाद लेखिका का सराहनीय प्रयास है। ऐसी कृतियाँ वर्तमान समय की माँग हैं परंतु सामान्य पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करने हेतु रचना की भाषा का सरल सहज होना आवश्यक है। बड़े अनुच्छेद एवं तत्सम शब्दावली की अधिकता कृति को बोझिल बना देती है जबकि सावरकर जैसे महापुरुषों के जीवन चरित्र राष्ट्र प्रेम की अलख जगाकर जन-जन के पथ प्रदर्शक है। **डॉ. ए. के गर्ग :** स्वातंत्र्य वीर सावरकर का क्रांति पर्व देश को गुलामी से मुक्त करने की दुर्दम्य आकांक्षा से स्थापित किया गया है। वर्तमान समय में पुनः इस उत्सव की आवश्यकता है। आवश्यक है वैचारिक क्रांति, जन-जन में राष्ट्र प्रेम, राष्ट्र कल्याण की भावना।

विदिशा : शिव डोयले : स्वातंत्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकर का सम्पूर्ण जीवन देशवासियों के लिए प्रेरणा का केन्द्र है। उनके द्वारा किया गया समर्पण और अँग्रेजी सरकार द्वारा दी गई यातनायें हमें रोमांचित कर जाती हैं। वे देश पर प्राण न्यौछावर करने वालों और केवल देश के लिए जीने वालों के लिए ज्योति स्तंभ है। **उपेन्द्र कालूसकर :** देश ने वीर सावरकर के त्याग, तपस्या और उनके समर्पण का मूल्यांकन करने में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में किसी न किसी कारण से चूक अवश्य की है। देश के १९४७ में आजाद होने के बाद जो व्यक्ति १९६६ तक जीवित रहा उसे वह सम्मान नहीं मिल सका जिसके वे प्रथम हकदार थे। **आनंद श्रीवास्तव :** सावरकर जी ने मात्र १४-१५ वर्ष की आयु में ही मारते-मारते मरने तक का संकल्प लेकर जीवन-यात्रा प्रारंभ की। वे केवल क्रांतिकारी ही नहीं, वे निर्माता भी थे क्रांतिकारियों के। जब-जब भी आजादी की लड़ाई और उसमें किये गये त्याग की चर्चा होगी हम उन्हें याद करते रहेंगे। शायद आने वाला कल उनका पुनः मूल्यांकन करे।

शिवपुरी : डॉ. हरिप्रकाश जैन : यह उपन्यास स्वतंत्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकर के क्रांतिकारी और तपोनिष्ठ जीवन की वृहद् कथा है। उनके महान संघर्ष, त्याग और उत्सर्ग की यह कथा मूलतः मराठी भाषा में लिखी गई है, जिसे अनुवादक ने हिन्दी भाषा में रूपांतरित किया है। यह उपन्यास स्वाधीनता संघर्ष में वीर सावरकर के अमर योगदान और स्वाधीनता के लिए उनके तपोनिष्ठ जीवन का रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत करता है। आज की युवा पीढ़ी के लिए यह रचना अत्यंत प्रेरणादायक और देशभक्ति के भाव जगाने वाली है। **पुरुषोत्तम गौतम :** सावरकर महान क्रांतिकारी और देशभक्त होने के साथ ही महान एवं भावुक कवि भी थे। वे सेल्यूलर जेल में भीषण कष्टदायक जीवन में भी अविचल देशभक्त बने रहे। **अरुण अपेक्षित :** सावरकर के जीवन का महाकाव्य है, जिसमें उनकी देशभक्ति, क्रांतिकारिता, तपोनिष्ठ जीवन और उत्सर्ग का काव्यमय वर्णन है। अनुवादक ने मूल रचना के भाव की रक्षा करते हुए सरल और बोधगम्य भाषा-शैली में कृति को प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास देश की युवा पीढ़ी को देशभक्ति, त्याग, समर्पण तथा बलिदान की भावना से ओत-प्रोत करने में सफल होगा। **आचार्य सुरेश शर्मा :** वीर सावरकर स्वतंत्रता संग्राम के महान योद्धा और अपराजेय देशभक्त थे। **प्रमोद भार्गव :** सावरकर

जी साहित्यिक प्रतिभा तथा काव्य साधना के धनी थे। वे इतने संवेदनशील कवि थे कि सेल्यूर जेल की काल कोठरी में दीवार की पत्थरों पर कोयले से कविताएँ लिखते रहते थे। घोर यातनापूर्ण जीवन में भी उनके अंदर का कवि परास्त नहीं हुआ। वे वज्र की तरह कठोर थे तो उनका हृदय फूल से भी अधिक कोमल था। उपन्यास अत्यंत प्रभावी, पठनीय और संग्रहणीय है।

बैरसिया : अनिल देशमुख : 'समंदर प्राण अकुलाया' उपन्यास विनायक दामोदर सावरकर की ध्येय शक्ति, प्रतिभा व प्रेरणा आदि गुणों से परिपूर्ण है, स्वतंत्रता की लड़ाई कराने के लिए सावरकर जी जाने जाते थे। **पर्वतगिरि गोस्वामी :** उपन्यास में महामानव वीर सावरकर के मन के सारे झंझावात लेखक के मन में गहरे उतर गये, मन के विचार तरंगों को नाटक के रूप में व्यक्त करने की मूल कल्पना थी, किन्तु वह पूरी नहीं हो पाई, उसे लेखक ने उपन्यास के रूप में शब्दबद्ध किया है। स्वातंत्र्यवीर सावरकर का क्रांति पर्व देश को गुलामी से मुक्त कराने की आकांक्षा से किया गया सफल प्रयास है यही लेखक की मूल भावना रही है। **ओम विद्रोही :** उपन्यास को पढ़कर वीरसावरकर के क्रांति पर्व तथा इसमें कितने आत्मयज्ञ हुए इस सत्य का दर्शन नयी पीढ़ी को होना चाहिए। उन्हें प्रेरणा मिले लेखक का यही उद्देश्य है।

भूमि की ओर : डॉ. सुरेश शुक्ल 'चन्द्र'

बालाघाट : प्रो. एल. सी. जैन : यह नाटक ग्रामीण सामाजिक समस्याओं से जुड़ा नाटक है। साहूकारों के कर्ज, जमींदारों द्वारा किया गया उत्पीड़न व शोषण और सम्पन्न लोगों से भयभीत किसानों की व्यथा-कथा पर आधारित इस नाटक में न केवल इन समस्याओं को बल्कि अन्य अनेक समस्याओं को जैसे अधिक जनसंख्या, बेकारी, अशिक्षा, खाद्य समस्या आदि को सटीक ढंग से इस नाटयकृति में उभारा गया है। परिवार नियोजन, अधिक कृषि उत्पादन और सहकारिता द्वारा इन समस्याओं को समाधान भी नाटक के ही माध्यम से देने का सफल प्रयास किया गया है। **अशोक सिंहासने 'असीम' :** नाटककार के अनुसार गाँवों की दुर्दशा का एक कारण गाँवों की भौगोलिक स्थिति भी है। वे बहुत ही अंदर बसे हुए हैं जहाँ आवागमन की काफी असुविधा है। अंध विश्वास, भाग्यवादी चिंतन, बेकारी की समस्या जैसे और भी अनेक कारण हैं जो गाँवों के विकास में बाधक हैं जो शिक्षित लोगों को गाँवों की ओर आकृष्ट करने में असमर्थ हैं। इस नाटक में एक पढ़ी-लिखी नारी पात्र के माध्यम से वैज्ञानिक ढंग से सहकारी खेती से ही गाँवों के विकास से गाँवों को बेहतर बनाने का सटीक संदेश दिया गया है। **सुभाष चन्द्र गुप्ता :** जो पुत्र-पुत्रियाँ जीवित अवस्था में माँ-बाप की सही देखभाल और सेवा नहीं करते वे बुढ़ापे में उनकी क्या सेवा करेंगे, और मरने के बाद उन्हें क्या याद करेंगे या उनका नाम रोशन करेंगे! माँ-बाप का नाम पुत्रों के श्रेष्ठ कर्मों से ही चलता है ऐसी मान्यता है इस कृति के रचयिता की। **श्रीमती मोनिका जैन :** नाट्यकृति में ढोंगी साधु संतों का खुलकर पर्दाफाश किया गया है। दान किसे दिया जाना चाहिए या दान के लिए कौन उपयुक्त पात्र है नाटककार के अनुसार हष्ट-पुष्ट स्वस्थ व्यक्ति को कभी भी दान नहीं देना चाहिए। कमजोर अपंग वृद्ध व्यक्ति को सहयोग के रूप में दान देना चाहिए। श्रम व मेहनत के द्वारा ही देश तीव्र गति से विकास कर सकता है। **यादोराव मेश्राम :** नाटक में पात्रों के माध्यम से परिवार नियोजन संबंधी अनेक जानकारियाँ बड़े ही सरल एवं प्रभावी ढंग से देने का सटीक प्रयास किया है। छोटे-छोटे परिवारों के द्वारा अनेक समस्याएँ स्वत: ही हमेशा के लिए समाप्त हो सकती है। नाटककार ने इस बात को अच्छे ढंग से समझाने का भी प्रयास किया है कि न तो पुत्र से वंश चलता है, न ही मरने के बाद लड़के अपने माँ-बाप को याद करते है। **राकेश सिंहासने :** नाटककार ने इस नाट्य कृति के माध्यम से साधुओं, ढोंगियों व तांत्रिकों द्वारा किये गये

झूठे चमत्कारों व कारनामों का खुलकर विरोध किया है। ये सब चमत्कार झूठे और पाखंड है। इनका विरोध कर समाज के अन्य लोगों को इससे बचने की सलाह देना चाहिए। **सोना जैन :** नाटककार ने ग्रामीण जीवन एवं परिवेश से जुड़ी अनेक अच्छाइयों एवं बुराइयों की विवेचना एवं विश्लेषण बड़े ही सूक्ष्म ढंग एवं विस्तार से पात्रों के माध्यम से नाटकीय शैली में प्रस्तुत कर हम सबको गाँवों से जोड़ने का प्रयास किया है। गाँवों में फैली दहेज प्रथा का केवल विरोध ही नहीं किया है, बल्कि दहेज के दुष्परिणामों से समाज को अवगत कराने का सटीक प्रयास भी किया है। **लक्ष्मी जैन :** परिवार के परिजन ही अपने लोगों पर अत्याचार करते है, इस नाटक में दर्शाया गया है। महँगाई एवं गरीबी ही इस अत्याचार का प्रमुख कारण है। गाँवों के लोग शिक्षा ग्रहण कर शिक्षित होकर गाँवों में रहकर गाँव की सेवा करें, तभी गाँवों का कायाकल्प होगा। स्वयं समृद्ध होंगे तो गाँव और देश भी समृद्ध होगा। **प्रेम प्रकाश त्रिपाठी :** गाँव में शिक्षा का समुचित विकास हो तो गाँववासी तेजी से शिक्षित होंगे। गाँव में रहकर ही अपने श्रम एवं कौशल के द्वारा गाँव का विकास कर शहरों व महानगरों की ओर होने वाले पलायन को रोका जा सकता है। नाटककार ने अपने नाट्य पात्रों के माध्यम से शिक्षित युवाओं को गाँवों की ओर आकर्षित करने का सफल प्रयास किया है।

सतना : अध्यक्षता **चिंतामणि मिश्र**, वरिष्ठ साहित्यकार और पत्रकार रहे। गोष्ठी का संचालन युवा लेखक **अनिल अयान** ने किया। **डॉ. मनोरमा मिश्र :** यह नाटक कृति रंगमंचीय है जिसमें ग्राम प्रधान भारत के जन मन को गाँव की माटी से जोड़ने का सफल प्रयास किया गया है। लगभग आधी सदी जाने के बाद जब हम वर्तमान में भारत के परिवेश पर दृष्टि डालते हैं तो यह पाते हैं कि भूमि की ओर कृति की प्रासंगिकता उतनी आज भी है। लेखक ने सामाजिक और व्यैक्तिक समस्याओं मन:स्थितियों का सूक्ष्म अवलोकन किया गया है। उन्होंने गाँव से शहरों की ओर हो रहे पलायन को मार्मिक रूप से चित्रित किया गया है। **निर्मला सिंह :** यह नाटक जनसंख्या बेकारी और खाद्य समस्याओं को क्रमश: उभारा गया है। कृषि और सहकारिता से विकास के नये आयाम कैसे खुलते हैं यह भी इस नाटक में स्पष्ट रूप से पाठकों के सामने रखा गया है। **रामलाल प्रजापति :** नाटक पलायन और शहरीकरण के विरुद्ध ग्रामीणों को गाँव और अपनी सोंधी माटी की ओर लौटने का संकेत देता है। **डॉ. एच. डी. पा. अर्पित :** यह उपन्यास बाजारवाद और शहरीकरण से उपजे ग्रामीण संकट को उभारता है। इसमें कौतूहल अंत तक बना रहता है। नाटक बोझिल नहीं होने पाता। इसमें सरस प्रसंगों का भी रोचक चित्रण मिलता है। **अपूर्वा चतुर्वेदी :** इस नाटक में पद्य गीतों को बड़ी ही सिद्दत से पिरोया गया है। हर ग्रामीण को ग्राम्य जीवन को जीने और ग्रामीण माटी की संस्कृति और सभ्यता को अगली पीढी के लिये संजोने का संकेत यह नाटक देता है। **राहुल दाहिया :** इसमें नारी पात्रों को मुख्य रूप से उभारा गया है। गाँवों की समस्याओं और विभिन्न संकटों को प्राथमिक रूप से उभारा गया है। **शंकर दयाल भारद्वाज :** नाटक पूर्वकाल से ही जागरूकता का प्रयोजन सिद्ध करता रहा है। यह नाटक अपनी माटी से लेखक के लगाव को पाठकों के सामने लाता है और यह संदेश देता है कि तुम्हे भी अंतत: गाँव और ग्राम्य जीवन की ओर लौटना ही होगा। शहर भगाते हैं तब भी हम दौडते हैं वहीं और गांव हमें बुलाते हैं तो हम वहाँ से दूर भागते हैं जो गलत हैं। **चिंतामणि मिश्र :** इस नाटक की शैली प्रभावी है। पात्रों का चयन और कथोपकथन गहराई लिये हुये है। परन्तु जिस समय लिखा गया उस समय गांवों में ऐसा माहौल रहा होगा। किंतु वर्तमान में गांव मर रहे हैं। किसानों को मारा जा रहा है। समस्याओं का ज्वार सबको निगल रहा है। किसान मजदूर बनने के लिये मजबूर है। इस नाटक का अंत सुखद हैं मेरे अनुसार वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप इसका अंत दु:खद होना चाहिये। गोष्ठी में **के. पी. सिंह** भी उपस्थित रहे।

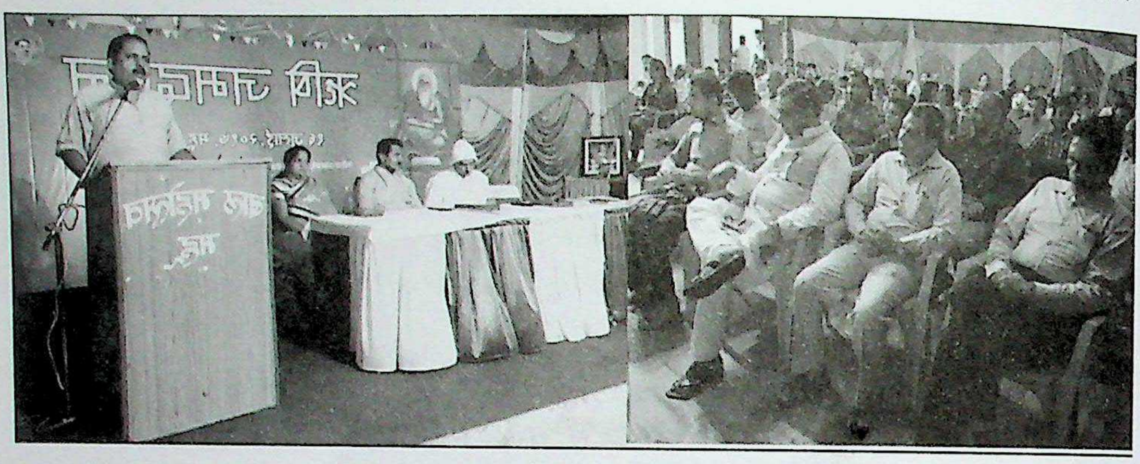
अनुसूचित जनजाति के युवा रचनाकारों की कार्यशाला

धार, राजा भोज की धारानगरी में जहाँ साहित्य और नाट्य की ख्यातिवंत परम्परा रही है। पाषाण प्रस्तरों पर नाट्य अंकन और वसंत उत्सव में पूरे माह के आयोजनों का ये नगर साक्षी होता था, वर्षों बाद उसी नगरी में एक बार फिर व्यंग्य और नाट्य की शब्द ध्वनि गूंजित हुई। अवसर था साहित्य अकादमी के परम्परागत आयोजन सृजन संवाद का। दिनांक १४ व १५ जुलाई, २०१७ को स्थानीय नटराज पैलेस सभागृह में युवा रचनाकारों की कार्यशाला का आयोजन हुआ। उद्घाटन समारोह प्रातः समाजसेवी और लेखक श्री धीरसिंह पवैया के मुख्य आतिथ्य और युवा व्यंग्यकार तथा हास्य कवि श्री संदीप शर्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। प्रथम दिन खण्डवा से पधारे व्यंग्यकार श्री कैलाश मण्डलेकर ने युवाओं को प्रशिक्षण दिया। नगर के साहित्यकार और सुधी नागरिक भी उद्घाटन और समापन सत्र में सहभागी हुए। दूसरे दिन नाटक विधा पर विमर्श और प्रायोगिक कार्य पर आधारित रहा। प्राचीन काल से ही भारत में नाटक और व्यंग्य किसी न किसी रूप में समाज का अंग रहे हैं। नाटक के माध्यम से समाज की विसंगतियों, महानता और ऐतिहासिक कथा कहानियों को मंचित किया जाता रहा है। नाटक कई कलाओं की प्रस्तुतियों का समूह है। बच्चों और युवाओं में नाटकों के प्रति रुझान अभी भी कायम है। ग्रामीण क्षेत्र के बच्चों की प्रतिभाओं को दिशा और उचित मार्गदर्शन मिले तो वे भी और बेहतर कार्य कर सकते हैं। ज्यादा लिखने के स्थान पर कम और उपयोगी लिखा जाना श्रेष्यकर है।' उक्त विचार बाल साहित्य सृजन पीठ के निदेशक श्री कृष्ण कुमार अष्ठाना द्वारा समापन समारोह के मुख्य अतिथि के रुप में व्यक्त किये। धार में साहित्य अकादमी की दो दिवसीय कार्यशाला में व्यंग्य लेखन के बाद आज समापन में नाटक विधा के इतिहास और लेखन कौशल को आमंत्रित विद्वानों द्वारा सरल तरीकों से प्रतिभागियों को समझाया गया। परिणाम स्वरूप बच्चों के चार समूहों के द्वारा त्वरित चार नाटक तैयार किये गये। माँ की ममता शीर्षक के नाटक को प्रथम पुरस्कार प्रदान किया गया। अकादमी के विशेष सम्मान के साथ ही बाल साहित्य सृजन पीठ द्वारा बारह सौ पचास रुपये का नगद पुरस्कार भी प्रदान करने की घोषणा कर गई। नाटक परम्परा के इतिहास और वर्तमान उसके प्रकार आदि को पहले सत्र में भोज शोध संस्थान के निदेशक डॉ. दीपेन्द्र शर्मा, धार महाविद्यालय की डॉ. अरुणा मोटवानी और वरिष्ठ रेडियों रूपक लेखक श्री राधाकृष्ण बावनिया द्वारा बतलाया गया। बच्चों ने प्रश्न पूछकर भी अपनी लेखकीय व विषयक समस्याओं के समाधान पाये। आयोजन में दुर्गेश नागर और हरिदत्त शुक्ला द्वारा भी मागदर्शन प्रदान किया गया। कार्यक्रम का संचालन डॉ. दीपेन्द्र शर्मा द्वारा व आभार डॉ अरुणा मोटवानी द्वारा व्यक्त किया गया। प्रतिभागी सभी छात्रों को साहित्य अकादमी की ओर से प्रमाण-पत्र अतिथियों द्वारा प्रदान किये गये। इस अवसर पर पाठंक मंच के समीक्षक सदस्य नगर के वरिष्ठ साहित्यकार उपस्थित रहे।

—प्रस्तुति : दीपेन्द्र शर्मा, धार

ऋषि जमदग्नि व्याख्यान-एक

महू, महू के शिक्षक सदन में ऋषि जमदग्नि एक व्याख्यांन शृंखलान्तर्गत साहित्य अकादमी का आयोजन दिनांक १६ जुलाई, २०१७ को किया गया। मुख्य वक्ता श्री रमेश शर्मा द्वारा ऋषि जमदग्नि के जीवन से जुड़ी अनेक घटनाओं के माध्यम से बताया कि हमारे ग्रंथों का अनुवाद करने वालों ने अर्थ का अनर्थ कर दिया जिसके



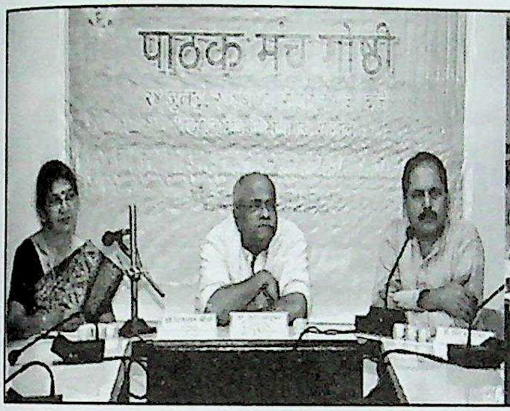
कारण अनेक भ्रान्तियाँ फैली, जैसे कहा जाता है कि ऋषि जमदग्नि के पुत्र भगवान परशुराम ने अपनी माता का शीश पिता की आज्ञा पालन के लिए काट दिया था, जो असत्य है। क्योंकि ऋषि जमदग्नि ने क्रोध पर विजय प्राप्त कर ली थी। तो कैसे क्रोध में अपने पुत्र को अपनी ही पत्नी की हत्या का आदेश दे सकते हैं। ऐसी और भी बाते हैं जिससे समाज में वैमनस्य बढ़ा। साहित्य अकादमी द्वारा विभिन्न विषयों को लेकर स्थान स्थान पर व्याख्यान, परिचर्चा आदि के माध्यम से राष्ट्रीयता का जागरण किया जा रहा है।अध्यक्षता अविरल विद्यासागर सेवा संस्था महू की अध्यक्षा श्रीमती रंजीता कौशल ने की, विशेष अतिथि म. प्र. लोक सेवा आयोग के सदस्य डॉ. राजेशलाल मेहरा रहे। कार्यक्रम का संचालन श्री आशीष दुबे ने किया तथा आभार श्री मुकेश कौशल ने व्यक्त किया। कार्यक्रम में प्रख्यात कवि श्री द्रौणाचार्य दुबे ने कविता पाठ किया। श्रीमती पायल परदेसी के नेतृत्व में भगवान परशुराम पर आधारित नाटक का मंचन किया गया। इस अवसर पर विभिन्न विद्यालयों में प्रतियोगिता में भाग लेने वाले विद्यार्थीयों को प्रमाण-पत्र दिये गये। आयोजन में बड़ी संख्या में समाज जन के साथ ही विशेष रुप से सर्व श्री राधेश्याम यादव, राजेश मिश्रा, आनन्द कौशल, श्रीकुमारन् नायर, डॉ. विनोद मिश्र, नवीन पंवार, पंकज देवड़ा, विनोद गुर्जर, सदाशिव दुबे, विनोद नींम, रतनलाभ वर्मा, राजेश पाटीदार, श्रीमती दुर्गा देवी कौशल, श्रीमती कुसुम वर्मा, श्रीमती अंशु दुबे श्रीमती पाटीदार आदि उपस्थित रहे।

—प्रस्तुति : मुकेश कौशल, महू-इंदौर

भोपाल जिले के पाठक मंच संयोजकों एवं उनके नियमित पाठकों की संगोष्ठी

साहित्य अकादमी,भोपाल द्वारा, स्वराज भवन, भोपाल में,जिले के पाठकमंच संयोजकों एवम उनके नियमित पाठकों की एक दिवसीय कार्यशाला विगत 24 जुलाई, 2017 को सम्पन्न हुई। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ साहित्यकार और राष्ट्रीय संगठन मंत्री,अखिल भारतीय साहित्य परिषद नई दिल्ली, श्रीधर पराड़कर (ग्वालियर)

ने की। उपस्थित साहित्यकारों ने अपने-अपने अनुभव, समस्याएं और सुझाव अपने केंद्र के बारे में दिए। सभी केंद्र संयोजकों एवम उनके नियमित पाठकों द्वारा जो प्रश्न एवं जिज्ञासाएं उठाई गई,उनके उत्तर अकादमी निदेशक डॉ. उमेश कुमार सिंह द्वारा दिये गए। उन्होंने उपस्थित जनों के उत्तर देते हुए कहा कि पाठकमंच केंद्र संयोजकों का दायित्व है कि वे अपने केंद्रों को और अधिक प्रभावी बनाएं, अधिक से अधिक युवा एवम नवीन पाठकों को अपने केंद्र से जोड़ें ,और पाठकमंच केंद्रों के संचालन में आने वाली कठिनाइयों को अकादमी यथा सम्भव दूर करने का प्रयास करेगी। उन्होंने कहा कि पाठकमंच केंद्र संयोजक अकादमी और पाठकों, साहित्यकारों के बीच की





महत्वपूर्ण कड़ी हैं। इस अवसर पर पाठकमंच अयोध्या नगर भोपाल के केंद्र संयोजक घनश्याम मैथिल 'अमृत' ने 'खंडोबल्लाल' लेखक श्रीधर पराड़कर (अप्रैल) 'संस्कृति सम्वाद', सम्पादक श्री सदानन्द प्रसाद गुप्त (मई) तथा 'को-अहम' लेखक श्री अशोक जमनानी (जून) की समीक्षाएँ प्रस्तुत की। इस अवसर पर विशेष रूप से उपस्थित वरिष्ठ साहित्यकार एवम प्रधान संपादक अक्षरा श्री कैलाश चन्द पन्त ने अकादमी द्वारा संचालित पाठक मंच केंद्रों की सराहना करते हुए, इसे पुस्तकों एवं पाठकों के मध्य समन्वय के लिए आवश्यक बताया। इस अवसर पर कार्यक्रम के अध्यक्ष श्रीधर पराड़कर ने पुस्तकों की समाज के लिए उपयोगिता, मुद्रित शब्दों के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा कि पुस्तक प्रकाशित हो कर अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँचे तभी उसके लेखन और प्रकाशन का महत्व है, और यह महत्वपूर्ण काम अकादमी के पाठकमंच संयोजक कर रहे हैं, उन्हें बधाई। इस अवसर पर वरिष्ठ नाट्य निर्देशक श्री अशोक बुलानी को श्रीधर पराड़कर जी ने अपनी ऐतिहासिक कृति 'खंडोबल्लाल' भेंट की, क्योंकि श्री बुलानी जी ने कहा था कि मैं हर पुस्तक को पढ़ते हुए उसमें नाट्य तत्व देखता हूँ कि क्या उसका नाट्य मंचन किया जा सकता है। इस अवसर पर श्रीमती अनीता सक्सेना, संयोजक मिनाल, श्रीमती शीला मिश्रा, संयोजक, नयापुरा, श्री रितेश दुबे, कोलार रोड, श्रीमती आशा शर्मा संयोजक, कोहेफिजा श्री घनश्याम मैथिल, अयोध्या नगर, श्री पर्वतगिरी गोस्वामी संयोजक बैरसिया, प्रमुख रूप से उपस्थित थे। इसके साथ ही डॉ. सुनीता खत्री, श्रीमती कान्ति शुक्ला, डॉ. गौरीशंकर शर्मा गौरीश, श्री सतीशचन्द्र श्रीवास्तव, श्रीमती कुमकुम गुप्ता सहित अनेक साहित्यकार, प्रबुद्ध नागरिक व पुस्तक प्रेमी उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन श्रीमती अनीता सक्सेना ने किया।

—प्रस्तुति : घनश्याम मैथिल 'अमृत' भोपाल

निरंतर रचना पाठ, भोपाल



साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद् द्वारा आयोजित 'निरंतर रचना पाठ' की शृंखला के अंतर्गत वरिष्ठ साहित्यकार एवं आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह की अध्यक्षता में एक कार्यक्रम दिनांक 11 अगस्त, 2017 को शाम पाँच बजे स्वराज भवन में आयोजित किया गया। इस शृंखला में मोहन तिवारी 'आनंद' एवं श्रीमती अनीता सक्सेना ने अपना रचनाओं का पाठ किया। कार्यक्रम का संचालन कवि धर्मेन्द्र सोलंकी ने किया। कार्यक्रम के प्रारम्भ में अनीता सक्सेना ने कहा लेखन अत्यधिक प्रेम से या असहनीय दर्द से उपजता है। आज मैं आपको कई तरह की कविताएँ न सुना कर एक स्त्री पर केन्द्रित कविताएँ सुना रही हूँ। जिन्दगी भर परिवार को समर्पित एक स्त्री, जो कभी पिता, कभी पति तो कभी बच्चों पर आश्रित रहती है, लेकिन इसके बावजूद अपने परिवार के साथ पूरे समाज पर समर्पित रहती है, वह परिवार की धुरी होती है। उसकी व्यथा-कथा समय तथा उम्र के साथ कैसे बदलती जाती है यह चार पड़ावों के माध्यम से मैं आपको अपनी कविताओं में सुना रही हूँ शीर्षक है 'पड़ाव डर पड़ाव'। नारी दयनीय नहीं है, दया की पात्र भी नहीं है सिर्फ उसका दर्द मैं बयाँ कर रही हूँ। मोहन तिवारी 'आनंद' ने अपनी रचनाओं में देशभक्ति गीत, मानवीय रिश्तों पर गीत, और प्रकृति पर गीत प्रस्तुत किये। इस अवसर पर वरिष्ठ लेखक श्री राम वल्लभ आचार्य, जी.पी. सोनी, हरि भटनागर, नरेंद्र दीपक, उषा जायसवाल, घनश्याम सक्सेना, गौरीशंकर गौरीश, चंद्रकांत जायसवाल, शृंगारी, हरि शर्मा, रमेश नन्द, डॉ. मालती बसंत, क्षमा पाण्डेय, अनीता चौहान, रितेश दुबे, यश मालवीय, सुशील गुरु, नवल जायसवाल, डॉ. नीहारिका रश्मि, ए.डी. खत्री, डॉ. कुमकुम गुप्ता, दामिनी खरे, शीला श्रीवास्तव, नीना सोलंकी सहित बड़ी संख्या में साहित्य प्रेमी उपस्थित रहे। साहित्य अकादमी के निदेशक डॉ. उमेश कुमार सिंह ने अपने वक्तव्य में कहा कि हमारा प्रयास है कि निरंतर रचना पाठ की इस परंपरा का और विस्तार हो, साहित्यकार यहाँ पर सुनने और सुनाने भी आयें। अध्यक्षता कर रहे डॉ. विजय बहादुर सिंह ने अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में कहा कि साहित्य में विचार विभिन्नता, मत विभिन्नता हो सकती है लेकिन सत्य विविधता नहीं होनी चाहिए। 'चरण धरत, चिंता करत, चितवत चारों ओर, सुवरण को खोजत फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर'। इस तरह से सुन्दरता का बोध होना चाहिए। रूप का ही नहीं अपितु वस्तु का भी उसके आत्मीय सौन्दर्य के साथ बोध होना चाहिए। एक लेखक के लिए मनुष्य होना जरुरी है, मनुष्य होना दिखाना नहीं। आपने कहा कि समकालीन जीवन की जो कविता है उसकी मुख्य विशेषता है सामान्य जनजीवन और तकलीफों को बयान करना, यही उसकी सामाजिकता है। कभी-कभी कवि अपनी अनुभूतियों को भी एक मार्मिकता के साथ व्यक्त करता है। हो सकता है इसमें कला का तत्व कम हो लेकिन आस-पास के जीवन के अनुभवों का संसार बड़ा समृद्ध है और रचनाकार ये बातें अपनी रचनाओं में व्यक्त करता है। आभार के साथ कार्यक्रम समाप्त हुआ।

—प्रस्तुति : अनीता सक्सेना, भोपाल

प्रकाशन

साहित्य अकादमी, मध्य प्रदेश संस्कृति विभाग, भोपाल

निमाड़ी साहित्य का इतिहास — १००.००
प्रधान संपादक : डॉ. देवेन्द्र दीपक
लेखक : डॉ. श्रीराम परिहार

मालवी साहित्य का इतिहास — १५०.००
प्रधान संपादक : डॉ. देवेन्द्र दीपक
लेखक : श्याम सुंदर निगम

बुंदेली साहित्य का इतिहास — ३८०.००
प्रधान संपादक : प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल
लेखक : डॉ. आरती दुबे

बघेली साहित्य का इतिहास — १९०.००
प्रधान संपादक : प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल
लेखक : डॉ. आर्या प्रसाद त्रिपाठी

साहित्य का भोपाल संदेश — २५.००
प्रों. त्रिभुवननाथ शुक्ल

साहित्य के शाश्वत प्रतिमान — ५०.००
प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल

हमारे छत्रसाल — ८०.००
प्रधान संपादक : प्रो. उमेश कुमार सिंह
लेखक : शंकर दयाल भारद्वाज

साहित्यिक गजेटियर, जिला : जबलपुर — १८०.००
संपादक : प्रो. उमेश कुमार सिंह
संयोजक : प्रो. जवाहर चौरसिया 'तरुण'
सह संयोजक : प्रो. अभिजात कृष्ण त्रिपाठी

साक्षात्कार के उपलब्ध विशेषांक

सिंहस्थ अंक मई २०१६, आपातकाल अंक जून २०१६-२०१७ एवं तस्मै श्री गुरवे नमः
जुलाई २०१६-२०१७ विशेष पठनीय सामग्री के साथ उपलब्ध हैं।
जून-जुलाई २००५, जून-अगस्त २००६, जून-जुलाई २००९ प्रवासी भारतीय हिन्दी लेखन
प्रथम स्वतंत्रता संग्राम, कश्मीर विस्थापन तथा नरेश मेहता पर केन्द्रित विशेषांक।

साहित्य अकादमी के प्रकाशन

कविता

वृक्ष की शिराओं में (द्वि,सं.) १५.००
प्रमोद त्रिवेदी
नरक को कभी शर्म नहीं आती १५.००
हरीश पाठक
कच्चे घर के लिए १५.००
राजकुमार कुम्भज
मैथिली मंगल १२.००
शुकलाल प्रसाद पाण्डेय
अंगारों की सदियाँ ०.७५
गौरीशंकर लहरी
चयनिका २०.००
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
खिड़कियों पर लगे कागज १५.००
हरिशंकर अग्रवाल
जारी हैं लेकिन यात्राएँ १५.००
विनोद निगम
सिर्फ आँख भर रोशनी में ४०.००
शशि शर्मा
एक तीली बची रहेगी ३५.००
प्रतापराव कदम
जो कुछ भी घट रहा है दुनिया में ३०.००
नासिर अहमद सिकंदर
काल चित्र ३५.००
प्रयास जोशी
यहाँ इस शहर में ३०.००
भानुप्रकाश

कहानी

उन्नीस साल का लड़का १४.००
शशांक
औपचारिक अंतःकरण (द्वि.सं.) १२.००
राजेन्द्रकुमार मिश्र
सरेआम १२.००
हरीश पाठक
जंग ४०.००
ए.असफल
जुमेराती मियाँ ४०.००
विनोद मिश्र
जो सहमत हैं सुनें ३०.००
यशवंत व्यास

भाषण, आलेख, निबन्ध संग्रह

प्रेमचंद आज (व्याख्यान) १५.००
सं. डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय
भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य, खंड-१ (व्याख्यान) ५०.००
सं. डॉ. भागीरथ मिश्र
भारतीय भाषाओं में कृष्ण काव्य,खंड-२ (व्याख्यान) ७०.००
सं. डॉ. विनयमोहन शर्मा
पानी, पानी, पानी (निबंध) १५.००
कमला प्रसाद चौरसिया

आलोचना, अनुसंधान, मूल्यांकन, दर्शन, विवेचन, जीवनी

निरंजनी सम्प्रदाय के हिन्दी कवि ५०.००
डॉ. सावित्री शुक्ल
मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और तुलसीदास ५.००
डॉ. भागीरथ मिश्रा
अक्षर अनन्य ३०.००
सं. अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव
भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान ६०..००
डॉ. हीरालाल जैन
मध्यप्रदेश के संगीतज्ञ १००.००
प्यारेलाल श्रीमाल
समय में कविता (रचना समीक्षा) १५.००
सं. प्रभाकर श्रोत्रिय
अन्वय ५०.००
सं. प्रभाकर श्रोत्रिय
महाकवि केशव १५.००
डॉ. बृजेश द्विवेदी

चिट्ठी

'साक्षात्कार' के जुलाई, २०१७ अंक में मेरी काव्य रचनाओं को स्थान देने के लिए धन्यवाद। अंक के आलेख एवं अन्य रचनाएँ अपना प्रभाव छोड़ती हैं। वर्तमान में प्रकाशित होने वाली साहित्यिक पत्रिकाओं में सामग्री के लिहाज से साक्षात्कार की गणना अग्रिम पंक्ति के रूप में होती है। संपादकीय विशेष रूप से आकर्षित करता है।
राजेन्द्र निशेश, २६९८, सैक्टर ४० सी, चण्डीगढ़, मो. ०९४१७१०८६३२

साक्षात्कार पूर्णांक ४५१ (जुलाई,२०१७) प्राप्त हुआ। साक्षात्कार, धरोहर, पुन:र्पाठ में आई रचनाओं की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। अंक में आई कहानियाँ/यात्रा-वृत्तांत लाजवाब। काव्य-खंड की रचनाएँ भी न केवल सटीक व समीचीन बल्कि उनमें आज के वातावरण के साथ चित्रण हैं। संपादकीय न केवल पठनीय बल्कि मननीय भी है।
मदन देवड़ा, मालीखेड़ी मार्ग, आफिसर्स कॉलोनी के निकट, तराना जिला-उज्जैन (म.प्र.)- ४५६६६५

साक्षात्कार जुलाई, २०१७ प्राप्त हुई, धन्यवाद। पत्रिका के सभी आलेख/सामग्री पठनीय है। कविताएँ भी अर्थपूर्ण हैं। परमसुख का मार्ग-लेख काफी प्रभावी, उपयोगी है। प्रत्येक लेख आध्यात्मिक विचारों का है। पढ़ने में आनन्द आता है। सम्पादकीय काफी उत्तम विचार प्रकट करता है। पत्रिका का प्रकाशन काफी अच्छे तरीके से हुआ है। सामग्री के साथ कागज तथा मुद्रण भी काफी अच्छे तरीके से हुआ है। **बी.एस. शांताबाई, कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, १७८, ४ मेन रोड, चामराजपेट, बेंगलूर- ५६००१८**

साक्षात्कार का जून अंक पहली बार पढ़ने को मिला। पत्रिका खूब पसंद आई। संपादकीय अति प्रिय लगी, लेख अमृतलाल गौड़, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा यात्रा वृतांत, कहानी तथा कविताएं बेहद पसंद आई। **बद्रीप्रसाद वर्मा अनजान, गल्लामंडी गोलाबाजार,गोरखपुर (उ.प्र.)**

साक्षात्कार का जून २०१७ अंक प्राप्त हुआ। पृष्ठ-पृष्ठ को छुआ। स्तरीय सामग्री की फसल लहलहा उठी। कलम प्रतिक्रिया देने में जुटी- देते हुए शुभकामना/बहुत हो रहा हर्ष /साक्षात्कार के पढ़ने से/मिलता है निष्कर्ष।/मिलता है निष्कर्ष/क्यों गाना वन्दे मातरम!/कुछ को केवल सुनने में ही/होता है गम। /साक्षात्कार भी अच्छा है/संस्मरण उपयुक्त/मानव झंझावातों से/कभी हुआ है मुक्त!/आपातकाल ने लिख दिया/एक काला इतिहास/क्या बंदी की पीड़ाएँ/नहीं सुबह की आस/ कथा, कहानी तो बांधे/दोहे में है यथार्थ,/व्यंग्य, कविता में मिला/ज्यादा ही भावार्थ। /चिट्ठी और श्रद्धांजली/ नियति को है प्यार/शब्द शब्द भी देता है/एक अच्छा उपहार।—**प्रदीप 'नवीन', 'प्रवाह' १ ए-सिल्वर ऑक्स कॉलोनी, अन्नपूर्णा रोड, इन्दौर ४५२००९ मो. ९८२६४३९३८६**

'साक्षात्कार' का जुलाई अंक मिला। आभारी हूँ कृतज्ञ हूँ। आपकी संपादकीय प्रभावशाली है, आज के संदर्भों में बहुत प्रासंगिक है, वह स्वतंत्र लेख भी है। प्रो. ब्रजकिशोर कुठियाला से साक्षात्कार वैचारिक चिंतन को अभिव्यक्त करता है। 'धरोहर' के अंतर्गत पं. दीनदयाल उपाध्याय, चंद्रधर शर्मा गुलेरी के (निबंध) हिन्दी की कालजयी धारा के चिंतन को अभिव्यक्त करता है। आलेख एवं कहानी से 'काव्य-खंड' कमजोर है। परमहंस योगानन्द की आत्मकथा के अंश अद्‍भुत है। अन्य आलेख भी महत्त्वपूर्ण और प्रासंगिक है। कहानियों में डॉ. गीता गुप्त जी की कहानी मानवीय संवेदना की अद्‍भुत अभिव्यक्ति है चेतना को झकझोर देने वाली कहानी। **विवेक सत्यांशु, १४/१२, शिवनगर कालोनी, अल्लापुर, इलाहाबाद-२११००६ मो. ०७०६८३२७९८७**

'साक्षात्कार' का जुलाई अंक प्राप्त हुआ। धन्यवाद पढ़ रहा हूँ। सबसे पहले आपको सम्पादकीय गौर से पढ़ लिया। वास्तव में आज पूजा गृह-पूजा की दुकानें, हस्पताल-चिकित्सा की दुकानें तथा पाठशाला शिक्षा की दुकानें बनकर रह गये हैं। वास्तव में ये संस्थान सेवा के केन्द्र होने चाहिए। आज हर एक काम धनोपार्जन के उद्देश्य से चल रहा है। ''जीव सेवा-शिव सेवा''- श्रीरामकृष्ण हमारे संविधान में राष्ट्रगीत है, राष्ट्रध्वज हैं, राष्ट्रभाषा (राजभाषा) आदि हैं; किन्तु राष्ट्र-नायक नहीं। अमेरिका का जार्ज वाशिंगटन, फ्रांस का नेपोलियन बोना पार्ट पूर्व यू.एस.आर. का लेनिन, ईरान का रुस्तम है। हमारे संविधान में कोई नहीं है। लोक मान्यतिलक, नेताजी सुभाष, महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू ने जिस महापुरुष की प्रशंसा की है वह विवेकानन्द है। **प्रो. चमन लाल सप्रू, ४८८ अशोक एनकलेव - ३, सेक्टर - ३५, फरीदाबाद, १२१००३**

'साक्षात्कार' का जुलाई २०१७ का अंक मिला। हर अंक की तरह इस अंक में भी संपादकीय समसामयिक, प्रासंगिक एवं अन्तर्मन को झकझोरने वाला है। यह सत्य है कि दुकाल केपीछे कहीं न कहीं अभी भी सुकाल छिपा है। पं. दीनदयालजी भविष्य दृष्टा थे, महामानव थे। उनका बताया व लिखा एक-एक शब्द सार्थक है। अपने साक्षात्कार में प्रो. बृजकिशोर कुठियाला ने बहुत ही गूढ़, विचारणीय एवं उत्कृष्ट सवाल, उठाए हैं और अपने जीवन के अनमोल अनुभव बताए हैं। 'परम सुख का मार्ग', 'कछुआ-धमर', 'मेरे माता-पिता एवं मेरा बचपन', 'जीवन की इष्ट गति', 'महर्षि जमदग्नि', 'मातृभ्यो नमः' तथा 'प्रिया हीन मोहि भय उपजावा' आलेख उच्य स्तरीय एवं संग्रहणीय है। 'वे देख रहा है', 'सरहद पर शहनाई' और 'रोटी की कीमत' नामक कहानियाँ अच्छी बन पड़ी है। 'मुंबई... हवाई अड्डा... सिंगापुर...' नामक कहानी दिल को झंझेड़ती है कि आज के इनसान को हो क्या हो गया है? हाँ, पैसा, पद और प्रतिष्ठा बहुत कुछ है, मगर सब कुछ तो नहीं। उसके आगे क्या मानवीय मूल्य कुछ भी नहीं? और माँ-बाप का महत्व? यह उनसे पूछो जिन्होंने बचपन में अपने माँ-बाप को खो दिए हैं। ऐसे उत्कृष्ट एवं शानदार अंक हेतु संपादक को बलिहारी।-Manak Tulsiram Gaur, No. 247, II Floor 9thMain, Shanti Niketan Layout, Arekere, Bangalore-560076, Mo - 8742916957

नोट : सभी रचनाकारों से निवेदन है कि अपनी रचनाएँ भेजते समय उसी नाम का उल्लेख करें, जिस नाम से बैंक में खाता हो। अन्यथा एक बार चैक बनने के बाद दूसरा चैक जारी किया जाना संभव नहीं होगा। -संपादक

त्रिलोचन चलता रहा

मंडी हाउस पर नोएडा जाने वाली चार्टर्ड बस में त्रिलोचन

त्रिलोचन को देखा
पकी दाढ़ी
गहरी आंखें
चेहरे पर ताप
हाथ में झोला
चुपचाप खड़े थे बस के दरवाजे पर

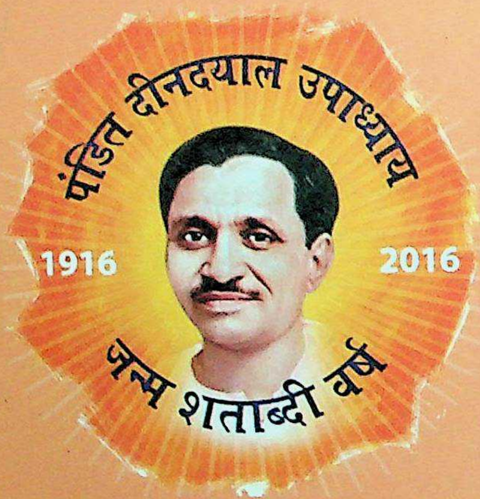
ऐ ताऊ
पैसे दे

ऐ ताऊ
पीछे बढ़ जा, सीट है बैठ जा

जैसे प्रगतिशील कवियों की नई लिस्ट निकली थी
और उसमें त्रिलोचन का नाम नहीं था
उसी तरह इस कंडक्टर की बस में
उनकी सीट नहीं थी

सफर कटता रहा
त्रिलोचन चलता रहा
संघर्ष के तमाम निशान
अपनी बांहों में समेटे
बिना बैठे
त्रिलोचन चलता रहा।

– त्रिलोचन



साहित्य अकादमी
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, बाणगंगा, भोपाल (म.प्र.)

मध्यप्रदेश माध्यम/2017